शंकराचार्य

राष्ट्रीय जीवनचरित

शंकराचार्य

टी. एम. पी. महादेवन

अनुवाद
सुमंगल प्रकाश

नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया

ISBN 81-237-2774-7

पहला संस्करण : 1968

दूसरी आवृत्ति : 1999 (*शक* 1921)

रु.**25.00**

निदेशक, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, ए-5 ग्रीन पार्क, नयी दिल्ली-110016 द्वारा प्रकाशित

विषय सूची

प्रस्तावना

आदिकाल से ही इस देश में, जीवन के हर क्षेत्र में, असाधारण व्यक्तियों का प्रादुर्भाव हुआ है । हमारा इतिहास ऐसे महान लोगों के नामों से भरा पड़ा है, जिनकी कला, साहित्य, राजनीति, विज्ञान और अन्य क्षेत्रों में महत्वपूर्ण देन रही है । कितनों के नाम तो घर घर लोगों की जबान पर हैं । इनमें से बहुत-से व्यक्ति ऐसे हैं जिनका सिर्फ नाम ही लोग जानते हैं ; उनके जीवनवृत्त और कार्य के बारे में उनको बहुत कम ज्ञान है । कुछ ऐसे भी हुए हैं जिनकी उपलब्धियां तो असाधारण हैं, लेकिन उनके विषय की लोगों की जानकारी नगण्य है ।

किसी देश का इतिहास, बहुत अंश तक, उसके इन महान नर-नारियों का इतिहास है । उन्होंने ही उसको गढ़ा, संवारा और उसका विकास किया । जन-साधारण के लिए यह आवश्यक है कि इन विभूतियों के बारे में कुछ जाने, ताकि वह समझ सकें कि अपने विकास की दिशा में देश किन चरणों से हो कर गुजरा है ।

इस देश में जन्म लेने वाले असाधारण व्यक्तियों में शंकराचार्य का स्थान बहुत ऊंचा है । बौद्धिक और शारीरिक दोनों ही दृष्टियों से उनके जीवन की उपलब्धियां इतनी विलक्षण थीं कि उन पर सहसा विश्वास नहीं होता । एक प्रकार से उन्हें चमत्कारपूर्ण ही कहा जा सकता है । उनकी गणना उन विभूतियों में की जाती है जिन्होंने अति अल्प काल में इतिहास और संस्कृति की धारा ही पलट दी । शंकराचार्य ने अपने अल्पकालीन किंतु ज्वलंत जीवन द्वारा इतिहास को जैसा मोड़ दिया वैसा शायद ही किसी दूसरे व्यक्ति ने दिया हो । उनकी प्रखर प्रतिभा उनके बाल्यकाल में ही चमक उठी थी और संसार को जो संदेश वे देने आए थे उनका आरंभ तभी से हो गया था । उन्हें विजय पर विजय मिलती ही चली गई और हिंदू धर्म के ढांचे की तो उन्होंने काया पलट ही कर दी । दार्शनिक विचारधारा के विकास में अद्वैत दर्शन की उनकी देन बहुत बड़ी थी । कोई भी कसौटी हम सामने रखें, उनकी गणना संसार के अधिक-से-अधिक असाधारण और विशिष्ट व्यक्तियों में करनी होगी ।

इस पुस्तक के लेखक डा. टी. एम. पी. महादेवन शंकराचार्य पर न केवल प्रमाण हैं, बल्कि अपनी प्रकृति और साधना के नाते स्वयं भी अद्वैतानुयायी हैं । दर्शन पर उन्होंने कई उत्कृष्ट पुस्तकें लिखी हैं और भारतीय धर्म और दर्शन को प्रतिष्ठित करने

की दिशा में उन्होंने बहुत कुछ किया है। डा. महादेवन ने इस पुस्तक में शंकराचार्य के अद्वैत दर्शन को सुबोध और आकर्षक रूप में पाठकों के सामने रखा है।

नई दिल्ली **बालकृष्ण केसकर**
8 मार्च, 1968

1. आविर्भाव और प्रारंभिक जीवन

शंकर का आविर्भाव जिस युग में हुआ था वह हमारे आज के युग से भिन्न नहीं था। वह भी धार्मिक, आध्यात्मिक और सामाजिक मतभेदों और कलह का युग था। ब्रह्मसूत्र के अपने भाष्य में, शंकर ने, देश की अत्यंत अव्यवस्थित दशा का वर्णन इन शब्दों में किया है–"जो यह समझता है कि प्राचीन काल के लोग भी आज के लोगों की ही भांति देवताओं से वार्तालाप करने में असमर्थ थे, वह चाहे तो यह भी समझ ले सकता है कि चूंकि आज कोई भी सार्वभौम राजा नहीं है, इसलिए प्राचीन काल में भी सार्वभौम राजा थे ही नहीं, अथवा वह यह भी तर्क कर सकता है कि प्राचीन काल में भी वर्णाश्रम धर्म का पालन उतना ही अव्यवस्थित था जितना कि आज है।"[1] शंकर के काल का भारत राजनैतिक दृष्टि से विच्छिन्न और सामाजिक दृष्टि से अस्त-व्यस्त था। छोटे छोटे कितने ही राज्य थे, जिनके बीच किसी बात में समानता नहीं थी और जो एक दूसरे को पछाड़ कर ऊपर आने के लिए झगड़ते रहते थे। एक घृणा दूसरी घृणा को जन्म देती जा रही थी और स्वार्थपरता तथा लोभ की वेदी पर शांति की बलि हो रही थी। एक ओर बाल की खाल निकालने वाले कट्टर कर्मकांडी थे जो शास्त्रों के अंतर्निहित भावों की उपेक्षा कर एक एक शब्द पर सिर फोड़ने के लिए तैयार रहते थे। दूसरी ओर शून्यवादी, नास्तिक और रूढ़िभंजक लोग थे जो उन सब को जड़-मूल से उखाड़ फेंकने के लिए कमर कसे हुए थे जो भी पूज्य, पवित्र अथवा प्राचीन था। दार्शनिक मत-मतांतरों के बीच प्रचंड संघर्ष छिड़ा हुआ था, और विभिन्न धार्मिक संप्रदायों के बीच शत्रुता विद्यमान थी। विद्वानों और जनसाधारण, सभी ने यह आधारभूत वैदिक शिक्षा मानो भुला ही दी थी कि सत्य एक है। विभिन्न मतों के नेताओं और अनुयायियों–सभी के द्वारा धर्म का प्रयोग जीवन में शांति पाने के साधन के रूप में नहीं, दूसरों पर प्रचार करने के हथियार के रूप में किया जा रहा था।

संकट और उलझन के एक ऐसे ही युग में शंकर का जन्म हुआ था। अपना अत्यंत अल्पकालीन जीवन उन्होंने लोगों के दिल और दिमाग के घावों पर मलहम लगाने और उन्हें आध्यात्मिक शांति और स्वस्थता का मार्ग दिखाने में ही बिताया। समाज की प्राण-शक्ति का ह्रास करने वाली उस व्याधि का निदान उन्होंने यही किया कि उसका

मूल पृथकत्व के बोध में है, और उसका एक ही सच्चा और कल्याणकारी उपचार बताया—एकत्व का बोध, जिसे उपनिषदों में अद्वैत दर्शन कहा गया है। यह उपचार यों तो सभी कालों के लिए अमोघ औषध के रूप में था, किंतु शंकर के काल में उसकी सार्थकता विशेष रूप में थी, जैसी कि आज भी है।

ऐसा जान पड़ता है मानो भगवान शिव (शाब्दिक अर्थ : परमानंद) ने अपने आविर्भाव के लिए स्वयं ही उचित स्थान, वंश और काल का निर्णय किया हो। कालडि[2] (केरल में) चूर्णा (जिसे पूर्णा या आलुवाय या पेरियारु भी कहा जाता है) नदी के तट पर, आलुवाय नगर[3] से लगभग छह मील दूर बसा हुआ एक मामूली-सा गांव है। आनंदगिरि-लिखित 'शंकर-विजय' की बनारस के तारक मठ पुस्तकालय वाली प्राचीन हस्तलिखित प्रति में कालडि को बड़ा सुंदर गांव अथवा केरल का आभूषण बताया गया है। इस गांव में एक नम्बूदिरि दंपति रहते थे–शिवगुरु[4] और आर्याम्बा। हाल के वर्षों तक, केरल के नम्बूदिरियों ने ही वैदिक संस्कृति को सबसे अधिक कायम रखा था। प्रायः सभी नम्बूदिरि बालकों को वेद-पाठ और वेदाध्ययन की पूरी शिक्षा दी जाती थी। जो बच्चे आधुनिक शिक्षा-संस्थाओं में भी भेजे जाते थे उन्हें भी उसके पहले यह शिक्षा तो लेनी ही पड़ती थी। यह तो कहने की आवश्यकता ही नहीं कि जिस युग में शंकर का आविर्भाव हुआ उसमें केरल के ब्राह्मण ही वैदिक ज्ञान और धर्मपरायणता में सबसे ऊंचे थे। शंकर के भावी पिता और, माता, शिवगुरु और आर्याम्बा, नम्बूदिरि वंशों के ही थे, जो समृद्ध होने पर भी अत्यंत धार्मिक थे। शिवगुरु के पिता का नाम विद्याधिराज[5] था और आर्याम्बा के पिता का नाम माधपंडित। शिवगुरु को ठीक समय पर गुरुकुल में पढ़ने के लिए भेजा गया था। विद्याध्ययन पूरा करने के बाद विवाह और पारिवारिक जीवन के प्रति उनके अंदर अरुचि दिखाई दी; बल्कि और भी अधिक गंभीरता के साथ वे विद्याध्ययन और आध्यात्मिक जीवन की ओर बढ़ना चाहते थे। पर उनके घर लौटने पर उनके माता पिता ने उन्हें विवाह के लिए समझा-बुझा कर राजी कर लिया। वधू के रूप में आर्याम्बा पसंद की गई। विवाह हो जाने के बाद वह निष्ठावान दंपति आदर्श गृहस्थ के रूप में शास्त्र-विहित धर्म-मार्ग पर चलते रहे और जिन्हें भी सहायता की आवश्यकता पड़ी उन्हें प्रदान करते रहे।

शिवगुरु और आर्याम्बा को जीवन में जो कुछ भी काम्य हो सकता है सभी प्राप्त था–सद्गुण और संपत्ति, विद्या और नम्रता, हृदय की विशालता और उदारता। किंतु वर्ष पर वर्ष बीतते चले गए, उन्हें पुत्र लाभ नहीं हुआ। एक दिन शिवगुरु आर्याम्बा के सामने इसी बात पर शोक प्रकट कर रहे थे। उस साध्वी ने अपने पति को सांत्वना दी और बोली–"हमें भगवान शिव की शरण लेनी चाहिए, वही सारे विश्व के कल्पवृक्ष है।" दोनों के दोनों भजन करने के लिए निकट के शिव-क्षेत्र में पहुंचे, जो अब त्रिचुर कहलाता है। जो लोग त्रिचुर के मंदिर में भजन करने के लिए जाते हैं वे वहां कुछ

दिनों तक नहीं, कभी कभी तो महीनों तक रहते हैं, नित्य वहां की पुण्य-सलिला नदी में स्नान करते हैं और मंदिर में जाकर अपनी धर्म-सम्मत कामनाओं की पूर्ति के लिए भगवान शिव की पूजा करते हैं। मंदिर नगर के बीचोंबीच एक टीले पर बना हुआ है जिसका नाम वृषाचल है—शिव के वाहन वृष का पर्वत। नगर का अधिक प्रचलित नाम 'तिरु-शिव-पेरुर' है, जिसका अर्थ है–'शिव का मंगलकारी महास्थान।' 'त्रिचुर' इसी का बिगड़ा हुआ नाम है। शिवगुरु और आर्याम्बा ने इसी स्थान की शरण ली और वहां दीर्घकाल तक भजन करते रहे।

शिवगुरु और आर्याम्बा की भक्ति और तपस्या से प्रसन्न होकर एक रोज रात को भगवान शिव ने एक वृद्ध पुरुष के रूप में उन्हें स्वप्न में दर्शन दिया और पूछा कि उन्हें कई मूर्ख पुत्र चाहिए जिनकी आयु लंबी हो, या अल्पकाल तक ही जीवित रहने वाला एक, किंतु मेधावी बालक! पति-पत्नी दोनों कुछ भी ठीक निश्चय नहीं कर सके, और उन्होंने इसका निर्णय भगवान् पर ही छोड़ दिया। तब भगवान ने कहा कि वे स्वयं ही उनके पुत्र के रूप में जन्म लेंगे, और उन दोनों को कालडि लौट जाने के लिए कहा। वे दोनों बड़े ही प्रसन्न हो अपने घर लौट कर आए। शिवगुरु ने गरीबों को दान दिया और अपने टोले के सभी धार्मिक लोगों को खिलाया-पिलाया, और अनेक उपहार दिए। उस धर्मपरायण दंपति ने तभी अन्न-जल ग्रहण किया जब सब अतिथि खा पी चुके। कहा जाता है कि ब्राह्मण भोजन कराने के बाद प्रसाद रूप में जो अन्न उन्होंने ग्रहण किया उसी में होकर भगवान शिव की दिव्य ज्योति ने आर्याम्बा की कोख में प्रवेश किया। समय आने पर आर्याम्बा गर्भवती हुई और एक नई ही आभा से उनका चेहरा देदीप्यमान हो उठा—क्योंकि स्वयं प्रकाशपुंज भगवान ने ही उन्हें अपनी माता के रूप में ग्रहण किया था।

भगवान के आविर्भाव के लिए बड़ा ही शुभ मुहूर्त चुना गया था—पुनर्वसु नक्षत्र में वैशाख मास के शुक्ल पक्ष की पंचमी का मध्याह्न काल। "शंकर-विजय" नामक ग्रंथों में शंकर के जन्मकाल का बड़ा ही भव्य वर्णन किया गया है—किस प्रकार सारी प्रकृति ने ही उस समय शांत और मनोहर रूप धारण किया था। वृक्ष और लताएं कुसुमित होकर मुसकराने लगी थीं। आकाश निर्मल और निष्कलंक हो गया था। यहां तक कि जो पशु स्वभाव से ही परस्पर वैरी थे उनमें भी पारस्परिक सौहार्द उमड़ पड़ा था।

शंकर के जन्मकाल को सुनिश्चित रूप से निर्धारित करना, भारतीय संस्कृति के इतिहास के प्रायः अन्य सभी कालों के निर्धारण की ही भांति, कठिन है। जनश्रुति की परंपरा से हमें इतना ही मालूम होता है कि उनके जन्म का वर्ष 'नंदन' था, मास 'बैशाख' और दिन 'शुक्ल पंचमी।' किंतु वह 'नंदन' वर्ष कौन-सा था? द्वारका, पुरी, और कांची के मठों के अभिलेखों के अनुसार यह 'नंदन' वह था जिसका योग ई.पू. 509 वर्ष में पड़ा (कलियुग का 2593)। चूंकि इस बात पर प्रामाणिक क्षेत्रों में पूरा मतैक्य है कि शंकर केवल बत्तीस वर्ष तक ही जीवित रहे, इसलिए इस हिसाब से उनका

जीवन काल ई. पू. 509 से 447 तक रहा। एक जैन ग्रंथ 'जिन-विजय' से इस काल की अप्रत्यक्ष रूप से इस तरह पुष्टि होती है कि उसमें कुमारिल भट्ट का जन्मकाल ई. पू. 577, कुमारिल से शंकर की भेंट का वर्ष ई. पू. 494, और शंकर के तिरोभाव का वर्ष ई. पू. 477 बताया गया है।[6] शृंगेरी की एक परंपरागत मान्यता के अनुसार कलि 3058 (ई. पू. 44) शंकर के जन्म का वर्ष है। कुछ अन्य विद्वानों का मत यह है कि शंकर का काल, कुछ पहले नहीं तो 700 ई. माना जाना चाहिए, क्योंकि 'ब्रह्म-सूत्र-भाष्य' (4-2-5) में पाटलिपुत्र नगर का उल्लेख हुआ है; और 750 ई. के आसपास चूंकि नदियों की बाढ़ों से वह नगर नष्ट हो गया था इसलिए उसके बाद का यह उल्लेख हो नहीं सकता। इसके अतिरिक्त 'भाष्य' (2-1-18) में किसी पूर्णवर्मन का उल्लेख है, जो संभवतः मगध का वही बौद्ध राजा है जिसका शासनकाल ह्युएन-त्सियांग ने 590 ईस्वी के आसपास बताया है। एक हस्तलिखित संस्कृत ग्रंथ में सुरक्षित एक तिथिबंध में शंकर के जन्म और मृत्यु के वर्ष क्रमशः कलि—3889 और 3921 बताए गए हैं जो 788 और 820 ईस्वी बनते हैं। यही जन्मकाल, कलि—3889, 'शंकर-मन्दार-सौरभ' नाम के एक ग्रंथ में दिया गया है। इस काल की पुष्टि में कई युक्तियां दी गई हैं– (1) कम्बोदिया के एक अभिलेख में किसी शिवसोम का उल्लेख है जिसने अपने को 'भगवान शंकर' का शिष्य बताया है। यह शिवसोम इन्द्रवर्मन का, जिसका काल 878 और 887 ईस्वी के बीच माना गया है, शिक्षक था। (2) 'सौन्दर्य लहरी' के पचहत्तरवें छंद में शंकर ने 'द्रविडशिशु' का उल्लेख किया है जो पार्वती के दिए गए दूध को पीकर एक विख्यात कवि बन गया। यह उल्लेख किसी किसी के मत में 'तिरुज्ञान संबंध' की ओर संकेत करता है जिनके बारे में माना जाता है कि वह ईस्वी सातवीं सदी में रहे। (3) 'शंकर-विजय' नामक ग्रंथों में कुमारिल भट्ट से शंकर की भेंट का उल्लेख है जो पूर्व मीमांसा के भट्ट-वाद के प्रवर्त्तक थे। एक बहुत बड़े प्राच्यवेत्ता के शब्दों में, कुमारिल का काल 'ईसवी 700 से पहले नहीं हो सकता'[7] जो विद्वान 788 से 820 ईस्वी तक के काल को शंकर का काल मानने के विरोधी हैं और उन्हें उससे पहले के काल का मानते हैं उनकी युक्ति यह है-(1) कि यह काल वस्तुतः बाद वाले एक शंकर का है—कामकोटि पीठ के अड़तीसवें आचार्य का—जिनके बारे में ही शायद कम्बोदियाई अभिलेख का भी संकेत है, (2) कि इसकी पूरी संभावना है कि 'सौन्दर्य लहरी' के उपर्युक्त छंद में जिस 'द्रविडशिशु' का उल्लेख है वह स्वयं उसका रचयिता ही है, अर्थात शंकर, (3) कि यह बात निर्विवाद रूप में सिद्ध नहीं हुई है कि कुमारिल का काल ईस्वी आठवीं सदी ही था।

इस प्रकार के तर्क-वितर्कों और मतभेदों के कारण शंकर के काल का निर्धारण करना बड़ा ही कठिन हो गया है। अधिक-से-अधिक निश्चितता के साथ जो बात कही जा सकती है वह यही कि वह कालिदास और कुमारिल के बाद ही हुए, और वाचस्पति

मिश्र से पहले । कुमारिल के विचारों से शंकर न केवल परिचित थे, बल्कि उन्होंने उनकी आलोचना भी की थी इसलिए निश्चय ही कुमारिल या तो उनके समकालीन, किंतु उम्र में बड़े रहे होंगे, अथवा उनसे पहले की पीढ़ी के । कुमारिल ने कालिदास के 'शाकुन्तलम्' से उद्धरण दिया है, इसलिए शंकर का काल कालिदास के बाद रहा होगा । वाचस्पतिमिश्र ने शंकर के 'ब्रह्मसूत्र-भाष्य' पर 'भामती' टीका लिखी है । पहले यह समझा जाता था कि वाचस्पति का काल 841 ईस्वी रहा होगा, पर अब उनका काल 876 ईस्वी निर्णीत हो चुका है । इसलिए इस सारी उपलब्ध जानकारी के आधार पर इतना ही कहा जा सकता है कि शंकर कालिदास और कुमारिल के बाद, और वाचस्पति से पहले, हुए ।

शंकर के जीवन से संबंधित जितनी भी जनश्रुतियों की परंपरा हमें मिली है उन सभी में एक बात समान-रूप से कही गई है, कि शंकर शिव के एक अवतार थे । एक मजेदार बात यह है कि 'श्री-रुद्र' में, जो कि भगवान शिव का एक स्तव है; उनके अनेक नामों में दो नाम 'कपर्दी' और 'व्युप्तकेश' भी गिनाए गए हैं । इनमें से पहले का अर्थ है 'जटाजूटधारी', जो कि भगवान शिव के स्वरूप का अत्यंत सुपरिचित वर्णन है । किंतु दूसरे नाम का अर्थ है "जिसका सिर मुंड़ा हुआ है ।" शिव के किसी भी स्वरूप में उनका मुंड़ा हुआ मस्तक देखने में नहीं आया । इसलिए 'श्री-रुद्र' के टीकाकार ने इसका अर्थ करते हुए लिखा है कि इसका आशय शंकर से है जो शिव के अवतार थे और संन्यासी के रूप में जो सिर मुंड़ाए रहते थे । भविष्य काल का प्रयोग कर के 'शिव-रहस्य' में लिखा गया है कि नीलकंठ शंकर भगवान अनेक अवतार लेंगे और श्रुति-स्मृतियों में व्यक्त सत्य को प्रतिष्ठित कर लोगों का कल्याण-साधन करेंगे । 'वायु-पुराण' में कहा गया है कि शंकर अपने चार शिष्यों के साथ जन्म लेंगे । इन शिष्यों को इसमें तनिक भी संदेह नहीं था कि उनके गुरुदेव भगवान शिव के ही अवतार हैं । तोटकाचार्य अपने गुरुदेव को संबोधन करके कहते हैं—"इस परम विश्वास ने मेरे हृदय को आनंद से भर दिया है कि तू स्वयं भव (शिव) ही है ।" एक दूसरे शिष्य पद्मपादाचार्य ने अपने गुरु का वर्णन 'अपूर्व शंकर' कह कर किया है । एक से अधिक 'शंकर-विजय' नामक ग्रंथों में पाए जाने वाले एक श्लोक में यह कहा गया है कि दक्षिणामूर्ति (दक्षिण की ओर मुंह करके बैठे हुए शिव) पवित्र वट वृक्ष के नीचे स्थित अपने आसन्न से उठ कर खड़े हो गए और अपना मौन भंग कर वह शंकर के रूप में सारे संसार में भ्रमण कर रहे हैं, ताकि लोगों को आत्म-ज्ञान का उपदेश देकर वह उन्हें अविद्या और संसार के ताप से छुटकारा दिलाएं ।

आनन्दगिरि का कहना है कि कालडि के लोगों ने शिवगुरु के घर में नवजात शिशु को देखा और उनकी धारणा हुई कि साक्षात शंभु (शिव) ही अवतार लेकर आए हैं । परंपरा के अनुसार जन्म–कुंडली बनाने के निमित्त जिन ज्योतिषियों को बुलाया

गया उन्होंने बतलाया कि बच्चा हर दृष्टि से पूर्ण है (शिशुः एष पूर्णः) । ग्यारहवें दिन बच्चे का नामकरण संस्कार हुआ और उसका नाम 'शंकर' रखा गया । इसके अक्षर बच्चे के जन्म की तिथि, पक्ष और मास को इंगित करने वाले हैं । गणना की एक विधि है—'कटपयादि-संख्या' । संस्कृत वर्णमाला के 'क' से शुरू होने वाले नौ अक्षर एक से नो तक की क्रम संख्या का बोध कराते है; उसी प्रकार 'ट' से शुरू होने वाले नौ अक्षर; और फिर 'य' से शुरू होने वाले पांच अक्षर । शंकर का जन्म वैशाख मास में, जो दूसरा मास है (2=र), शुक्ल पक्ष में, जो पहला (1=क) पक्ष है, और पंचमी तिथि को (5=श) हुआ था । इन्हें उलटी ओर से लेने पर 'श (शं)+क+र' बन जाता है । शिवगुरु ने यह नाम इसका अर्थ बिना विचारे ही रखा था, किंतु शंकर तो भगवान शिव के अवतार ही थे और जगत का अधिक-से-अधिक कल्याण करने के लिए ही आए थे, इसलिए बिना अर्थ की ओर ध्यान दिए रखा गया वह नाम भी अर्थपूर्ण सिद्ध हुआ ।

शंकर के जीवन की विशिष्ट घटनाओं का उल्लेख एक संस्कृत श्लोक में इस प्रकार किया गया है—"आठ वर्ष की अवस्था में उन्होंने चारों वेदों का अध्ययन कर लिया था, बारह वर्ष की अवस्था में वह सभी शास्त्रों में पारंगत हो गए थे, सोलह वर्ष की अवस्था में उन्होंने अपना 'भाष्य' लिखकर पूरा कर दिया था, और बत्तीस वर्ष की अवस्था में इस संसार से विदा हो गए थे ।"

शंकर एक अद्भुत बालक थे और बिलकुल प्रारंभिक वर्षों में ही उनके अंदर विलक्षण बौद्धिक प्रतिभा और हृदय की विशालता प्रकट हो गई थी । आनन्दगिरि कहते हैं कि प्राकृत, मागधी और संस्कृत भाषाओं की जानकारी शंकर को अपने शैशवकाल में ही हो गई थी । 'माधवीय शंकर-विजय' के अनुसार, उन्होंने अपने शैशव के प्रथम वर्ष में ही संस्कृत वर्णमाला और अपनी मातृभाषा सीख ली थी, और दो वर्ष की उम्र में वह पढ़ने लग गए थे; तीन वर्ष की अवस्था में वह काव्यों और पुराणों का अध्ययन करने लगे और उनके कितने ही स्थलों के अर्थ दिव्य-ज्ञान द्वारा उनके हृदय में स्वतः ही स्पष्ट हो गए । शंकर का उपनयन संस्कार होने के पहले ही शिवगुरु का देहांत हो गया ।[8] आर्याम्बा को सांत्वना देने का काम शंकर को ही करना पड़ा । अब उन्हें अपने पुत्र के हित में ही जीवित रहना था । पांच वर्ष की अवस्था में शंकर का उपनयन संस्कार हुआ । वेदाध्ययन के लिए उन्हें एक गुरुकुल में भेजा गया । वेदों, षड् वेदांगों और अन्य शास्त्रों का बहुत ही थोड़े समय में उन्होंने अध्ययन कर डाला । एक विशुद्ध ब्रह्मचारी की भांति वह सब नियमों का पालन करते हुए भिक्षा-वृत्ति से रहते थे, और गुरु की सेवा करते थे ।

शंकर के अध्ययन काल के समय के एक चमत्कार की कथा जो लोक परंपरा के रूप में चली आई है, उल्लेखनीय है । ब्रह्मचारी के रूप में शंकर एक दिन भिक्षा

के लिए किसी दरिद्र ब्राह्मण के द्वार पर जा पहुंचे । ब्राह्मण उस दिन के आहार की खोज में बाहर निकला हुआ था । शंकर को देखते ही ब्राह्मण-पत्नी बाहर निकल आई, और बड़ी दुखी हुई कि भिक्षा में देने के लिए अन्न का एक दाना भी घर में नहीं बचा रह गया था । घर का कोना कोना उसने छान डाला, और अंत में उसे एक आमलक फल (आंवला) मिला । उसने वही लाकर शंकर की भिक्षा की झोली में डाल दिया, और उसके अतिरिक्त और कुछ भी न दे सकने की अपनी असमर्थता प्रकट की। करुणामय शंकर उस देवी की भक्ति देख गद्गद हो उठे—भगवान शिव का एक नाम 'आशुतोष' है, अर्थात शीघ्र ही तृप्त हो जाने वाले—और उन्होंने धन–संपदा की देवी लक्ष्मी की स्तुति शुरू कर दी कि वह उस ब्राह्मण–दंपति पर कृपा करें । शंकर द्वारा रचित यही सर्वप्रथम स्तव था जो 'कनकधारा स्तव' (स्वर्ण-वर्षा का स्तव) के नाम से प्रसिद्ध है । शंकर की स्तुति के प्रताप से तभी स्वर्ण-आमलकों की वर्षा हो गई ।[9] वह धर्मपरायणा स्त्री, और तब ही लौटकर आया हुआ उसका पति भी, यह देख चकित रह गए, और उन्होंने उस दिव्य बालक की पूजा की। इस प्रकार शंकर ने धर्म-सेवा का जो पहला कार्य किया वह दरिद्रता से छुटकारा दिलाने का था ।

शंकर ने आठ वर्ष की अवस्था पूरी होने से पहले ही अपनी शास्त्रीय शिक्षा पूरी कर ली । 'माधवीय शंकर-विजय' का एक छंद है—"वह तर्क में पारंगत हो गए, सांख्य दर्शन पर उनका पूरा अधिकार हो गया, पातंजल योग का उनका ज्ञान विलक्षण था, भट्ट मीमांसा के जटिल सिद्धांत उन्होंने सीख लिए थे; यह भी कहना ही पड़ेगा कि ज्ञान-लाभ की इस कठिन परीक्षा में से निकलने पर उन्हें जिस आनंद की प्राप्ति हुई थी वह अद्वैत-विद्या के आनंद में समा गई थी । किसी जल-कूप से प्राप्त होने वाली तृप्ति क्या महासागर से मिलने वाली तृप्ति से बढ़-चढ़ कर हो सकती है?" (4-20)। "विद्या उन्हीं का भूषण बनती है जो उसकी साधना करते हैं, किंतु वे तो विद्या के ही भूषण बन गए थे।" (4-34) ।

विद्याध्ययन समाप्त करने के बाद शंकर गुरुकुल से लौट कर फिर अपनी माता के साथ रहने लगे । एक दिन आर्याम्बा अशक्त और अस्वस्थ हो गईं, फिर भी, सदा की भांति, स्नान के लिए वह नदी तक चलकर गईं जो घर से कुछ दूरी पर थी । लौटते समय रास्ते में वह अचेत हो गईं । शंकर ने जब सुना, वह दौड़ते हुए वहां पहुंचे और अपनी मां को घर लाए। दुबारा ऐसा न होने पाए—इस दृष्टि से उन्होंने प्रार्थना की कि चूर्णा नदी अपनी दिशा बदलकर उनके घर के पास से होकर बहने लगे । दूसरे दिन सूर्योदय होने से पहले यह चमत्कार घट चुका था । इस घटना से शंकर के व्यक्तित्व के अत्यंत मानवीय पक्ष पर प्रकाश पड़ता है । बाद के अपने लेखन में भी उन्होंने मातृत्व के प्रति अपनी गहरी भक्ति के संकेत दिए हैं । उदाहरण-स्वरूप, वृहदारण्यक उपनिषद् के अपने भाष्य में उन्होंने माता को अपने पुत्र की गुरु-स्वरूपा बताया है (पुत्रस्य सम्यगनुशास्त्री, अनुशासनकर्त्री) ।[10]

शंकर का आठवां वर्ष पूरा होने को ही था कि कुछ साधुओं की एक टोली उनके घर आई। शंकर और उनकी माता ने बड़े भक्तिभाव से अतिथियों का आदर-सत्कार किया। उस आतिथ्य से, और उस बालक में दिखाई देने वाली दैवी प्रतिभा से उन साधुओं को बड़ा ही आनंद हुआ। उन्होंने आर्याम्बा के सामने उन परिस्थितियों का स्पष्टीकरण किया जिनमें शंकर का जन्म हुआ था, और कहा कि यद्यपि मूल योजना के अनुसार उन्हें इस संसार में आठ वर्ष तक ही रहना था, पर अब यह अवधि दूनी कर दी जाएगी। उन दोनों को आशीर्वाद देने के बाद वे साधु चले गए। आर्याम्बा यह जान कर बड़े शोक में पड़ गई कि उनके पुत्र की आयु अल्प ही रहेगी। किंतु शंकर ने उनके शोक का कारण दूर करने की दृष्टि से इस लौकिक जीवन के मिथ्या स्वरूप की बात समझाने की कोशिश की। उन्होंने दिखाया कि माता-पुत्र जैसे सभी संबंध वैसे ही हैं जैसे कि दो पथिक राह में कुछ समय के लिए इकट्ठे हो जाएं।

अपने पुत्र की वैराग्य-प्रवृत्ति देख आर्याम्बा ने उसके चित्त को पारिवारिक कामकाज और जिम्मेदारियों की ओर मोड़ने की कोशिश की। वह उनका एकमात्र पुत्र था; उसे वह किसी तरह भी गंवाने के लिए तैयार नहीं थीं। इसलिए वह अब जल्द ही उसका विवाह कर देने की तैयारी में लग गईं, किंतु उस बालक का सांसारिक विषयों के प्रति कोई आकर्षण नहीं था। वह तो आया ही था जीवन का एक ऐसा महान व्रत लेकर जिससे बड़ा कुछ और हो ही नहीं सकता—अपने जीवन के संपूर्ण अनुभव को उन्मुक्त रूप से सारे जगत की सेवा में समर्पित कर मनुष्य जाति को चरम शांति की ओर ले जाने का मार्ग दिखाने के लिए। इसलिए उसने पारिवारिक जीवन का त्याग करना चाहा, और सो भी ऐसी उम्र में जबकि दूसरे बच्चों का खिलौनों के साथ खेलना भी नहीं छूट पाता। पर माता इसकी अनुमति देने को तैयार नहीं थी। कौन मां अपने बेटे को खुशी खुशी गंवाने को तैयार होगी! इसलिए, कोई चमत्कार हो तो काम बने!

एक दिन शंकर अपने घर के पास ही बहने वाली नदी में स्नान करने के लिए घुसे। एक मगर ने उनकी टांग पकड़ ली और उन्हें खींचकर गहरे पानी की ओर ले चला। वह अपनी मां का नाम ले कर चिल्ला उठे। आवाज सुनकर वह बुरी तरह घबड़ा गईं, और आकर देखा कि उनका बेटा नदी में अपने प्राण बचाने के लिए जूझ रहा है।[11] शंकर ने उन्हें बताया कि बात क्या थी। वह मगर उन्हें छोड़ ही नहीं रहा था। उन्होंने अपनी मां से अनुरोध किया कि वह उन्हें संन्यास आश्रम में प्रवेश करने की अनुमति दे दें। जीवन पर जब भारी प्राणान्तक संकट आया हुआ हो तब औपचारिक रूप में संन्यास ग्रहण कर लेने की प्रथा (आपत्-संन्यास) पुरानी है। बालक शंकर के इस अनुरोध को टाला नहीं जा सकता था। माता ने अनुमति दे दी। संन्यास एक नया जन्म माना जाता है, और इसलिए शंकर के प्राण लिए बिना वह संकट टल सकता था। आंखों में आंसू भरे आर्याम्बा ने अपने बेटे से कहा कि

वह यही चाहती हैं कि वह जीवित रहे; यदि संन्यास लेने से उसके प्राण बच जाएं तो इससे अधिक आनंद उन्हें और क्या होगा ! ज्यों ही शंकर को मां की अनुमति मिली, उन्होंने मन-ही-मन संन्यास ग्रहण कर लिया। मगर ने भी उसी क्षण उन्हें मुक्त कर दिया, और वह स्वयं भी उस शाप से छुटकारा पा गया जिसके फलस्वरूप उसे वह दैत्याकार देह मिली थी। बालक अक्षत अवस्था में नदी से बाहर निकल आया, और उसने यह दृढ़ निश्चय कर लिया कि एक परिव्राजक के रूप में ही वह अपना सारा जीवन बिता देगा।

मगर के जबड़ों से छुटकारा पाकर बच निकले अपने बेटे को देख आर्याम्बा यह भूल ही गई कि उनकी अनुमति से ही वह अब संन्यासी हो चुका था। उन्होंने समझा कि शंकर अब भी उनका वही बेटा है। किंतु शंकर ने उन्हें याद दिलाया कि अब से तो उसे भिक्षा देने वाली सभी स्त्रियां उसकी माताएं होंगी, उसे ज्ञान देने वाले सभी गुरु उसके पिता होंगे, और उससे दीक्षा लेने वाले सभी शिष्य उसके पुत्र होंगे। इस प्रकार, अब से कालडि वाला यह घर नहीं, सारा संसार ही उसका घर होगा। अपने उस पैतृक गांव को छोड़, संन्यास में दीक्षा देने वाले सुयोग्य गुरु की खोज में बाहर निकल जाने की शंकर ने अब अपनी मां से अनुमति मांगी। किंतु गृहत्याग के पूर्व उसने आर्याम्बा के संबंधियों के साथ बात करके उनके भरण-पोषण और उनकी रक्षा की व्यवस्था कर दी। उसने आर्याम्बा को यह आश्वासन भी दिया कि जब भी उसकी उपस्थिति आवश्यक होगी वह आ पहुंचेगा, और उनकी मृत्यु के बाद उनका अंतिम संस्कार वह स्वयं ही करेगा। पुत्र-प्राणा माता के पास इसके सिवा कोई चारा नहीं रह गया कि वह शंकर को कालडि छोड़ कर जाने दें। उन्हें प्रणाम कर शंकर अपना व्रत पूरा करने के लिए निकल पड़ा।

---

1. **ब्रह्म-सूत्र-भाष्य, 1-3-33**
2. **'शिवरहस्य' में गांव का नाम 'शशल' दिया गया है।**
3. **पेरियारु नदी, पेरियारु प्रायोजना के निर्माण के बाद से पूर्वी मदुरै क्षेत्र के अंचल को सींचने लगी है जो प्राचीन तमिल साहित्य में आलुवाय के नाम से प्रसिद्ध है।**
4. **'शिवगुरु', विशेषतः केरल में एक असामान्य-सा नाम था। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि चूंकि शंकराचार्य भगवान शिव के एक अवतार माने जाने लगे थे, इसलिए शंकर के आविर्भाव के कारण उनके पिता को मृत्यु के बाद शिवगुरु कहा जाने लगा। पर इस संबंध में एक और भी विचारणीय बात है जिससे इस नाम के लिए दूसरा ही कारण दिखाई पड़ता है। शिवगुरु या शिव-गुरुनाथ नाम का प्रचलन केवल कुंभकोणम के ही**

आसपास मिलता है, देश के अन्य किसी भी भाग में नहीं। साधारणतः बच्चों के नाम पास के ही किसी मंदिर के देवता के, या अपने वंश के ही इष्टदेव के, नाम पर रखे जाने की प्रथा तो प्रचलित है ही। केरल में, जिसका एक नाम परशुराम-क्षेत्र भी है, यह जनश्रुति है कि भारत के पश्चिमी तट के एक भूखंड का समुद्र से उद्धार करके परशुराम ने पूर्वी तट से लाए गए ब्राह्मणों को उस पर बसाया, और इस प्रकार केरल की स्थापना हुई। इंग्लैंड से अमरीका जाकर बस जाने वाले 'पिलग्रिम फादर्स (औपनिवेशक पादरियों) ने जिस प्रकार वहां के अपने नए गांवों के नाम मूल देश के अपने गांवों के आधार पर रखे, ठीक उसी तरह केरल के भी कितने ही स्थानों के नाम पूर्वी तटवर्ती जिलों के अनेक स्थानों के नामों पर ही रखे गए हैं। उदाहरण के लिए, आलुवाय का ही नाम लिया जा सकता है। त्रिचुर का नाम, इसी प्रकार, नम्बूदिरि परंपरा के अनुसार तिरु-शिव-पुरम हो गया। "शंकर-विजय" नामक ग्रंथों में यह भी कहा गया है कि पुत्र-लाभ की कामना से शिवगुरु ने त्रिचुर के शिव-मंदिर में तपस्या की थी। पूर्वी तट पर कुंभकोणम के निकट 'तिरु-शिव-पुरम' नाम का एक शिवमंदिर है; पिछली सहस्राब्दी में सुप्रसिद्ध शैव उपासकों या 'नायनमारों' ने उसकी स्तुति में कितने ही स्तवों की रचना की है। इस मंदिर के देवता का नाम शिव-गुरुनाथ है, जिसके कारण कुंभकोणम और उसके आसपास के अंचल में 'शिवगुरु' या 'शिव-गुरुनाथ' एक काफी प्रचलित नाम है। संभवतः त्रिपुर का मंदिर शिवपुरम की ही प्रतिकृति है, और शंकर के पिता का 'शिवगुरु' नाम कुंभकोणम के निकट शिव-गुरुनाथ के उस मंदिर के आधार पर ही रखा गया हो, जो संभवतः उनके वंश के इष्टदेवता रह आए हों।

5. इस नम्बूदिरि घर का नाम, केरल की एक परंपरा के अनुसार, कैप्पल्लि हल्लम है।
6. 'शिव-रहस्य' और 'भविष्योत्तर पुराण' में कहा गया है कि शंकर का जन्म कलियुग के दो सहस्र वर्ष बीतने पर होगा।
7. ए.बी. कीथ : 'कर्म मीमांसा' पृ. 11
8. 'चिद्विलास' और 'गुरुरत्नमालिका' के अनुसार शिवगुरु तब तक जीवित थे और उन्होंने स्वयं ही यह संस्कार किया।
9. वह नम्बूदिरि घर तब से 'स्वर्णत्तमना' (स्वर्ण-गृह) कहलाने लगा। आज भी कालडि के निकट यह घर मौजूद है और इसी नाम से प्रसिद्ध है।
10. बृहदारण्यक उपनिषद् पर भाष्य, 4-1-2।

11. कोचीन में प्रसिद्ध एक जनश्रुति के अनुसार, शंकर एक दिन संध्या समय, कुछ कुछ अंधेरा हो जाने पर, किसी शुद्धि स्नान के लिए नदी पर गए, जबकि उनकी मां साथ थीं और उन्हें दीये से रोशनी दिखाती चल रही थीं।

2. कालडि से काशी

आठ वर्ष की उम्र में कालडि छोड़ने के बाद बालक शंकर गुरु की खोज में उत्तर की ओर चल पड़ा। अद्वैत के अनुसार, गुरु-शिष्य, पिता-पुत्र आदि संबंधों के बीच दिखाई देने वाला सत्य एक ही है—ब्रह्म-आत्म ज्ञानी इस सत्य को पहचानते हैं, अज्ञानी नहीं पहचान पाते। शंकर तो स्वयं ही इस संसार में अद्वैत के सत्य का उद्घाटन करने आए थे, किंतु परंपरानुसार वह गुरु की खोज में दूसरों के सामने यही आदर्श उपस्थित करने की दृष्टि से निकल पड़े कि ज्ञान की दीक्षा उसी से ली जा सकती है जो उसे देने का अधिकारी हो। कालडि से चलकर दिव्य मार्ग के इस पथिक का रास्ता जंगलों और पहाड़ों में, नगरों और गांवों में से होकर था। लंबी यात्रा के बाद शंकर नर्मदा नदी के तट पर पहुंचे जहां[1] अंत में उन्हें अपने गुरु मिल गए। गौड़पाद के शिष्य गोविन्द भागवतपाद एक गुफा में रहते थे, और बड़े विद्वान और ज्ञानी पुरुष उनके शिष्यों के रूप में सेवा में लगे हुए थे।

गोविन्द समाधि में मग्न बैठे थे जब शंकर गुफा के द्वार पर आ खड़े हुए, उन्होंने अपने आने की सूचना दी और शिष्य बना लिए जाने की प्रार्थना की। समाधि से उठने पर गोविन्द ने उनसे प्रश्न किया, "कौन हो तुम?" उत्तर में शंकर ने, 'दशश्लोकी' नाम से प्रसिद्ध दस श्लोकों में, ब्रह्म का स्वरूप बताया, जो यथार्थ 'मैं' है। 'परिशेष्य न्याय' के आधार पर शंकर ने इन दस श्लोकों में यही दिखाया है कि संसार के सारे प्रपंचों का लय हो जाने पर जो सत्ता बच रहती (परिशेष) है वह अद्वैत आत्मतत्व है। जाग्रत अवस्था में जो विषय-जगत दिखाई देता है वह स्वप्नावस्था में विलीन हो जाता है, भाव-कल्पित स्वप्न-जगत का गहरी निद्रा में लोप हो जाता है। किंतु, विषयगत और आत्मगत, इन दोनों ही जगतों के अभाव में भी आत्मा शुद्ध चित् रूप में भासमान रहती है। निद्रा शून्य की स्थिति नहीं है, क्योंकि शून्य का बोध होना स्वयं शून्य होना नहीं है। आत्मा का किसी भी काल में किसी के भी द्वारा खंडन (बाध) नहीं होता। जब कुछ भी नहीं रह जाता तब भी वह बनी रहती है। जब देश (स्थान) और काल दोनों का ही अस्तित्व नहीं रहता, तब भी आत्मा की कोई क्षति नहीं होती। यह नित्य (सदा रहने वाला), अविकृत, सत् (सत्ता) है, जिसे उपनिषदों में आत्मा और ब्रह्म के नामों से अभिहित किया गया है। आत्मा शिव है, परम पुरुषार्थ-स्वरूप; वह ज्ञानधन, अखंड अद्वितीय है। सुचारु रूप से विचार करने पर यह प्रतीत हो जाना चाहिए कि ब्रह्म ही आत्मा है—"मैं" (अहम्) का आधार। इस प्रकार 'दशश्लोकी' में शंकर ने

पारमार्थिक एकत्व के उस परम सत्य को ऐसी भाषा में प्रकट किया है जिसमें जिज्ञासुओं को अज्ञान-निद्रा से झकझोर कर जगा देने की विलक्षण क्षमता है ।[2]

शंकर के मुंह से अद्वैत की इतनी उत्कृष्ट व्याख्या सुन गोविन्द मुग्ध हो गए ।[3] उन्होंने इसके लिए उनकी सराहना की, और कहा कि उन्हें पता है महादेव शिव ही शंकर का रूप रख कर वेदांत का ज्ञान देने के लिए पृथ्वी पर अवतीर्ण हुए हैं । विधि-पूर्वक शंकर को परमहंस-संन्यास की दीक्षा दे दी गई और अद्वैत के सत्य की शिक्षा देने वाले 'महावाक्यों' (उपनिषदों की प्रमुख वाणियों) का आशय बतला कर उन्हें उपदेश दिया गया ।

गोविन्द भागवतपाद के आश्रम में शंकर के रहते समय एक चमत्कार घटा । नर्मदा नदी में बाढ़ आई हुई थी और तटवर्ती गांवों में पानी चढ़ आया था । झोपड़ियों पर भारी संकट था और लोग आतंकित हो उठे थे । करुणामय शंकर ने 'जलाकर्षण मंत्र' के पाठ द्वारा और अपना कमंडल धरती पर रख कर, नदी की बाढ़ को रोक दिया । पानी घटने लग गया, और इस प्रकार पड़ौस की ही झोपड़ियां नहीं, उनके गुरु का आश्रम भी डूबने से बच गए । व्यास मुनि की भविष्यवाणी थी कि नर्मदा की बाढ़ को रोक सकने में जो समर्थ होगा और इस प्रकार जो उस अंचल को विध्वंस से बचा लेगा वही 'ब्रह्म-सूत्र' पर भाष्य लिखने का अधिकारी होगा । गुरु गोविन्द यह जानते थे, और अन्य दृष्टियों से भी वह शंकर की महत्ता को मान चुके थे । इसलिए उन्होंने उन्हें काशी जा कर 'ब्रह्मसूत्र' का ही नहीं, अन्य दो 'प्रस्थानों'—'उपनिषदों और भगवद्गीता' के भी भाष्य लिखने की आज्ञा दी ।

शंकर काशी गए, जो वाराणसी के नाम से भी प्रसिद्ध था । यह नगर भारतीय इतिहास में सदा ही पांडित्य और आध्यात्मिक ज्ञान के लिए विख्यात रहा है । काशी में ही शंकर ने अपने प्रथम शिष्य को दीक्षा दी । उनकी कृपा प्राप्त करने वाला यह नवयुवक विष्णु शर्मा था, जो कुछ ही समय पहले चोल देश से आया था । शंकर ने उसे संन्यास का नया नाम दिया–सनन्दन । शीघ्र ही शिष्यों की संख्या बढ़ने लगी । सनन्दन के प्रति उन्हें ईर्ष्या हुई, और लगा कि शंकर की उसके प्रति विशेष कृपा है जिसका वह अधिकारी नहीं है । आचार्य शंकर ने तब यह निश्चय किया कि इन्हें सनन्दन की श्रेष्ठता का अनुभव करा दिया जाए । एक दिन जब वे अपने इन शिष्यों के साथ गंगा स्नान कर रहे थे, उन्होंने दूसरे तट पर सनन्दन को जाते देखा, जो स्नान करने के बाद पहने जाने वाले कपड़े लिए हुए था । शंकर ने उसे पुकार कर इधर आने को कहा । सनन्दन, बिना कुछ सोचे-विचारे, उसी तरह पैदल चलता हुआ नदी पार करने लगा, और उसका एक एक पांव पानी पर जहां जहां पड़ता वहीं एक एक कमल उसके पांव को सम्हालने के लिए निकल आता । इसी से उसका नाम पद्मपाद पड़ गया ।

शंकर के दो और शिष्यों का यहां उल्लेख किया जा सकता है । प्रभाकर नाम का कोई व्यक्ति शंकर के पास अपने गूंगे बेटे को लेकर आया, ताकि आचार्य की कृपा से उसके मुंह में वाणी फूट निकले ।[4] आचार्य ने जब लड़के से पूछा—"तू कौन है?" तब लड़का उसी क्षण बोल उठा कि वह आत्मा है जिसका शरीर और मन की रचना करने वाले तत्वों के साथ संबंध बिठाने का यत्न करना भ्रमपूर्ण है । यह बात उसने कुछ श्लोकों में कही, और हर श्लोक में उसने यह बात दोहराई : "मैं वही आत्मा हूं जो नित्यज्ञान स्वरूप है" (स नित्योपलब्धिस्वरूपोऽहमात्म)। आचार्य परम प्रसन्न हुए और संन्यास में उसे दीक्षित कर उसका नाम रखा—'हस्तामलक', अर्थात, जिसका ज्ञान वैसा ही स्पष्ट है जैसा हाथ पर रखे आंवले का । हस्तामलक की इस कृति को यह असाधारण गौरव प्राप्त हुआ कि शंकर ने स्वयं 'हस्तामलकीय भाष्यम्' के नाम से उसका भाष्य किया ।

इसी समय के आसपास शंकर ने कलानाथ नामक एक और शिष्य को दीक्षा दी थी । शंकर के पास पहुंच कर उसने शिष्य बनने की इच्छा प्रकट की और उनकी स्तुति में कठिन तोटक छंद में एक स्तोत्र रचा ।[5] शंकर ने उसे संन्यास में दीक्षित कर उसका नाम तोटकाचार्य रखा । गुरु शंकर ही उसके सर्वस्व हैं, क्योंकि इस हृदयग्राही स्तोत्र में कहा गया है कि गुरु ही अज्ञानांधकार को दूर करने वाले हैं । इसका एक एक शब्द शिष्य की गुरु-भक्ति से ओतप्रोत है : हे गुरु शंकर, मुझे शरण दीजिए (भव शंकर देशिक मे शरणम्) ।

शंकर के काशी-प्रवास काल की एक घटना उल्लेख योग्य है । एक दिन वाराणसी में अपने शिष्यों को साथ लिए वह गंगा जी की ओर चले जा रहे थे । कुछ दूर पर एक अस्पृश्य उन्हें अपनी ओर आता दिखाई दिया, जिसके पीछे पीछे चार खूंखार कुत्ते थे । उस अस्पृश्य से शंकर ने कहा—भाग जा, भाग जा ! उत्तर में अस्पृश्य बोला—"क्या भाग जाए, और कहां से ? जिसे भाग जाने के लिए कहा, वह शरीर है, या आत्मा? यदि शरीर से अभिप्राय है, तो सभी शरीरों की रचना एक ही प्रकार के उपादानों से हुई है; और फिर, एक शरीर दूसरे शरीर से दूर क्यों भाग जाए ? यदि आत्मा से अभिप्रोय है, तो वह जा कैसे सकता है, और किसके पास से ? वह तो अद्वैत है ! क्या अन्न-निर्मित एक शरीर, अन्न-निर्मित दूसरे शरीर से दूर चला जाए ? या एक चेतन-स्वरूप दूसरे-चेतन स्वरूप से दूर चला जाए ? हे संन्यासियों में सर्वश्रेष्ठ, आपने जब कहा कि 'भाग जा, भाग जा', तब आपका अभिप्राय किसके भाग जाने से था, मुझे बताने की कृपा करें ।"

न भौतिक दृष्टि से ही कुछ भिन्न है, न आत्म-दृष्टि से ही । सभी भूत-जगत एक है, आत्मा एक है । भेद तभी उत्पन्न होते हैं और तभी उनकी कुछ संगति हो सकती है जब दो, एक-दूसरे पर, अध्यारोपित हों, या जब भ्रमवश एक का लक्षण दूसरे

में देखा जाए । ज्ञानी लोग विवेक द्वारा इन दोनों का अंतर समझते हैं, और जानते हैं कि जो भूत-जगत दिखाई देता है वह सत्य नहीं है, और यह कि एकमात्र आत्मा ही सत्य है ।

आत्मा के पारमार्थिक एकत्व के संबंध में वह अस्पृश्य स्पष्टीकरण करता ही चला गया—

"आत्म-सत्ता के अंदर, जो सहज आनन्द और ज्ञान का तरंगहीन महासागर है, भिन्नता की यह कैसी घोर भ्रांति—कि 'यह ब्राह्मण है', और 'वह कुत्ते के मांस का भक्षण करने वाला ?' गंगा की धारा या चांडालों की बस्ती की गलियों में जमा गंदे पानी में प्रतिबिंबित होने वाले सूर्य के बीच क्या कोई अंतर है; अथवा स्वर्ण-पात्र और मिट्टी के पात्रों में स्थित आकाश में ?"

आत्मा सत्-चित्-आनंद स्वरूप है । उसमें न विकृति है और न वैचित्र्य—एक ऐसा महासागर, जिसमें लहरें न उठती हैं न उठ सकती हैं । उसका सच्चा स्वरूप सच्चिदानंद के सूत्र में दर्शाया गया है । सत्, चित् और आनंद में से किसी एक को, शेष दो से पृथक, आत्मा का लक्षण नहीं माना जा सकता । आत्मा या ब्रह्म की सत्, आदि लक्षणों से पहचान नहीं की जा सकती । आत्मा तो है ही सत्-चित्-आनंद; सत् ही चित् है, चित् ही आनंद है । आत्मा में, और आत्मा के लिए, भिन्नता रंचमात्र भी नहीं है । न आत्मा के समान ही कुछ है और न आत्मा से भिन्न ही कुछ है, ओर न यह कुछ अवयवों (अंगों) को मिला कर कोई एक (पूर्ण) सत्ता बनी है । वह एकरूप हे, सर्वत्र और सदा ही एक-समान । आत्मा अद्वैत है, न उसकी कोई सीमा है और न बंधन । आत्मा एक ऐसे तटहीन महासागर की भांति है जिसमें रंचमात्र भी हलचल नहीं होती । तब उसके लिए भेद कैसे संभव है—जन्म से उच्च और नीच जैसा भेद? ब्रह्म में, जो सर्वत्र है ओर एक अभेद सत्ता के रूप में है, भेद की सूक्ष्मातिसूक्ष्म सभावना भी कैसे हो सकती हे ? भेद तो शरीर, आदि उपाधियों के कारण ही जान पड़ते हैं । किंतु ये भेद आत्मा का स्पर्श नहीं करते ।

शंकर ने ज्ञान देने वाली यह वाणी सुनी और वह उसी क्षण समझ गए कि चांडाल के वेश में यह तो साक्षात भगवान शिव ही हैं । सच पूछा जाए तो यह किसी एकपात्रीय नाटक जेसी घटना थी—एक ही सत्ता गुरु-शिष्य के दो रूपों में खेल कर रही थी । इस संबंध में शंकर ने स्वयं जो कहा है उसे हम एक रूपक में 'दक्षिणामूर्ति स्तोत्र' में पाते हैं : "शिष्य और गुरु पुत्र, और पिता के रूपों में एक ही सत्य प्रकट होता हे ।" वह चांडाल और शंकर, दोनों ही परम शिव की अभिव्यक्ति थे । और यह नाटक इसलिए रचा गया जिससे कि शंकर 'मनीषा-पंचकम्' के पांच जगमगाते हुए छंदों के माध्यम से एकत्व के ज्ञान का अमृत-सार उंड़ेल सकें ।

अंत में वह छद्मवेश दूर हुआ । चांडाल के स्थान पर अब वहां साक्षात विश्वनाथ

शिव खड़े थे, और उन कुत्तों ने चार वेदों का अपना प्रकृत स्वरूप धारण कर लिया था। शंकर ने भगवान के सामने मस्तक नवाया और परम सत्य का द्योतक यह उद्गार प्रकट किया—"शारीरिक दृष्टि से तो, हे शिव, मैं आपका दास हूं, जीवात्मा की दृष्टि से, हे त्रिनेत्र, मैं आपका ही एक अंग हूं, और हे सर्वात्मन्, आत्मा की दृष्टि से मैं साक्षात वही हूं जो आप हैं। यही मेरा सर्वशास्त्रसम्मत निश्चित निष्कर्ष है।"

परम प्रसन्न हो भगवान शिव ने आध्यात्मिक एकत्व की पुनः स्थापना के शंकर के महान व्रत की सिद्धि के लिए उन्हें असंख्य आशीर्वाद दिए और फिर उसी निराकार में समा गए जहां से उन्होंने आकार ग्रहण किया था।[6]

चांडाल के छद्मवेष में प्रकट होने वाले भगवान के आदेशानुसार शंकर हिमालय-स्थित बदरिकाश्रम चले गए, और वहां व्यास मुनि का साक्षात्कार प्राप्त कर उनका आशीर्वाद प्राप्त किया। यहीं उन्होंने अपने परम गुरु (गुरु के गुरु) गौड़पाद के दर्शन किए और उनका भी आशीर्वाद प्राप्त किया। इसके बाद वह काशी लौट आए और भाष्यों की ही रचना नहीं की बल्कि अपने स्वतंत्र प्रकरण ग्रंथ भी लिखे। कहा जाता है कि यह कार्य उन्होंने मणिकर्णिका घाट[7] पर मुक्तिमंडप में बैठकर किया, और वहीं अपने शिष्यों के सम्मुख अपनी कृतियों की व्याख्या की।

एक जनश्रुति यह है कि शंकर ने पहले 'विष्णुसहस्रनाम' पर अपनी टीका लिखी, और उसके बाद उपनिषदों, भगवद्गीता और ब्रह्मसूत्र की 'प्रस्थानत्रयी', 'वेदांत के तीन प्रामाणिक आधार' पर अपने 'भाष्य' लिखे। एक बार जब कि वह 'ब्रह्मसूत्र भाष्य' का स्पष्टीकरण कर रहे थे, एक वृद्ध पुरुष के रूप में व्यास का आविर्भाव हुआ और उन्होंने शंकर से कहा कि वह अद्वैत के अपने पक्ष के समर्थन में जो कहना हो, कहें। दोनों के बीच वह शास्त्रार्थ चार दिन तक चलता रहा। पद्मपाद अंत में समझ गया था कि यह 'ब्रह्मसूत्र' के निर्माता स्वयं व्यास मुनि ही हैं जो छद्मवेष रचे हुए हैं। उसने शंकर और उस वृद्ध पुरुष दोनों से ही प्रार्थना की कि वे अपना वाद-विवाद बंद करें, क्योंकि यदि भगवान शिव के अवतार शंकर और भगवान विष्णु के अवतार व्यास मुनि ही आपस में झगड़ते रहे तो फिर शांति कहां रहेगी ? इस तरह पहचान लिए जाने पर व्यास ने शंकर को आशीर्वाद दिया और उनके भाष्य की प्रशंसा कर शंकर की आयु की अवधि सोलह से बढ़ाकर बत्तीस कर दी। उन्होंने यह भी इच्छा प्रकट की कि शंकर सारे देश में भ्रमण कर लोगों के बीच वेदांत की शिक्षा का प्रसार करें।

शंकर के काशी-प्रवास काल की एक घटना 'भज गोविन्दम्' के लोकप्रिय स्तोत्र की रचना के संबंध में है। एक बार शंकर अपने शिष्यों के साथ किसी सड़क पर चले जा रहे थे। एक वयोवृद्ध विद्वान व्याकरण के नियमों की जोर जोर से आवृत्ति कर रहे थे। शंकर के कानों में यह आवाज गई। उस वैयाकरण पर उन्हें दया आई। उसके पास आ कर उन्होंने उसे सलाह दी कि वह अपना अमूल्य समय व्याकरण पर

नष्ट न कर भगवान की पूजा और भक्ति में लगाए । इसी अवसर पर 'भज गोविन्दम्' रचा गया । 'भज गोविन्दम्' से आरंभ होने वाली टेक के अतिरिक्त इस गीत में शंकर ने बारह छंद रचे; यही कारण है कि इस स्तोत्र का नाम 'द्वादश-मंजरिकास्तोत्र' पड़ा । कहा जाता है कि शंकर के साथ जो चौदह शिष्य वहां मौजूद थे उनमें से प्रत्येक ने एक एक छंद इसमें जोड़ा । शंकर का 'भज गोविन्दम्' गोविन्द की स्तुति में (गोविन्द शंकर के गुरु का भी नाम था) रचा गया विशुद्ध स्तोत्र नहीं है; अद्वैत वेदांत की यह एक प्रकरण-पुस्तिका भी है । इसमें शंकर ने उस संपूर्ण ज्ञान का समावेश कर दिया है जो किसी शिष्य को अद्वैत का सत्य समझाने के लिए आवश्यक है —नाशवान वस्तुओं की इच्छा का त्याग करना चाहिए; जीवन, संपत्ति, परिवार, संतति आदि की क्षण भंगुरता पर विचार करना चाहिए; लोभ और अभिमान जैसे दुर्गुणों पर विजय पानी चाहिए; संतोष, धैर्य और श्रद्धा जैसे गुणों का अर्जन करना चाहिए; और इसका अनुभव करना चाहिए कि यह जगत माया का दिखावटी जादू ही है; और केवल आत्मा ही सत्य है । उस वैयाकरण को संबोधित करते हुए शंकर कहते हैं—"भगवान की उपासना करो ! जो नाशवान है उसके प्रति आसक्ति रखने से मुक्ति नहीं मिल सकती; जो अविनाशी है उसके प्रति भक्ति रखना ही एकमात्र साधन है । यह सोचना कोरा धोखा है कि जो टिक नहीं सकता उसके भोग से तृप्ति मिलेगी । ऐसा सोचने वाला बहुत बड़े भ्रम में रहता है और वह मूढ़-मति है । यह सोचना भी अपने को भ्रम में रखना है कि ईश्वर की चिंता जीवन के अंतिम दिनों के लिए छोड़ रखनी चाहिए । मृत्यु आ खड़ी होने पर कोई भी ईश्वर की ओर अपना चित नहीं ले जा सकता, यदि निरंतर भक्ति और उपासना द्वारा उसके लिए पहले से तैयारी न की गई हो । मोक्ष के मार्ग की रूपरेखा बताते हुए शंकर कहते हैं—"सत्संग से वैराग्य उत्पन्न होता है; वैराग्य से भ्रम का नाश होता है; भ्रम का नाश होने से स्थिरता पैदा होती है; स्थिरता से जीवन्मुक्ति मिलती है ।"[8]

---

1. आनन्दगिरि के अनुसार, उस स्थान का नाम व्याघ्रपुर है । कुछ दूसरे विवरणों के अनुसार, शंकर को अपने गुरु बदरिकाश्रम में मिले ।
2. देखिए–श्री शंकराचार्य के 'दशश्लोकी' का टी. एम. पी. महादेवन और एन. वीजिनाथन द्वारा किया गया अंग्रेजी अनुवाद–"वेदांत इन टेन वर्सेज" (शंकर विहार, मद्रास-12, 1965) ।
3. चिद्विलास के अनुसार, जिन्होंने यह आश्रम हिमालय में माना है, गोविन्द के पूछने पर शंकर ने अपना परिचय यह कहकर दिया कि वह शिवगुरु के पुत्र हैं, और उन्होंने उन्हें सारी कहानी सुनाई, कि किस तरह उन्हें कालडि छोड़ना ही पड़ा, जिसमें मगर वाली यह घटना भी शामिल थी ।

यह सब सुनाकर उन्होंने उनका शिष्य होने की इच्छा प्रकट की ।

4. 'माधवीय शंकर विजय' के अनुसार, यह घटना 'श्री बलिपुरम' में घटी । बालक की अवस्था उस समय तेरह वर्ष की थी ।
5. देखिए, टी. एम. पी. महादेवन का "होमेज टु शंकर"(गणेश एंड कंपनी, मद्रास-17, 1959), पृ. 29-43 ।
6. देखिए,टी. एम. पी. महादेवन लिखित 'दि विस्डम ऑव यूनिटी' (मनीषापंचकम्) ऑव श्री शंकराचार्य (गणेश एंड कंपनी, मद्रास-17, 1967) ।
7. "माधवीय शंकर विजय" के अनुसार शंकर ने अपने भाष्यों की रचना बदरिकाश्रम में की थी ।
8. देखिए—टी. एम. पी. महादेवन का 'शंकर्स भज गोविन्दम' (गणेश एंड कंपनी, मद्रास-17, 1962) ।

3. दिग्विजय

शंकर के लिए अब दिग्विजय हेतु निकल पड़ने का समय आ गया था। जिन शक्तियों के विरुद्ध उन्हें मैदान में उतरना था वे हिंदुत्व के गढ़ के अंदर भी थीं और बाहर भी। किंतु यह युद्ध ऐसा था जिसमें पराजित पक्ष को खोना कुछ भी नहीं था, उलटे पाना-ही-पाना था। आस्तिक और तथाकथित नास्तिक दोनों ही प्रकार के दर्शनों की शक्ति में शंकर के कारण वृद्धि ही हुई, जब उनके अनुयायियों को यह दिखा दिया गया कि उनके अपने अपने दर्शनों में और उनके पृथक पृथक आचारों में क्या क्या दोष हैं और उन्हें दूर करना कितना आवश्यक है।

उस समय का सबसे अधिक शक्तिशाली और व्यापक आस्तिक दर्शन 'पूर्व-मीमांसा' का था। इस दर्शन के अनुसार, संपूर्ण वेद का तात्पर्य कर्मकांड अथवा धर्म-कृत्य मात्र है, न कि अद्वैत आत्मा या ब्रह्म। पहले तो 'मीमांसकों' की वेद संबंधी इस उलटी दृष्टि को ही शंकर को ठीक करना पड़ा। इस दर्शन के एक बहुत बड़े प्रतिपादक कुमारिल भट्ट थे जो प्रयाग में रहते थे। सनातनियों की एक परंपरागत मान्यता के अनुसार कुमारिल भगवान सुब्रह्मण्यम के ही अवतार थे, जो शिव-पार्वती के कनिष्ठ पुत्र (कुमार) थे। यह अवतार इसीलिए हुआ बताया जाता था कि बौद्ध सिद्धांतों का खंडन करके वैदिक धर्म की पुनः प्रतिष्ठा की जा सके। अपने यौवन काल में कुमारिल ने छलपूर्वक बौद्ध बनकर एक बौद्ध विहार में अध्ययन किया था। वह उस मत का प्रत्यक्ष अध्ययन करना चाहते थे जिससे कि आगे चलकर वह उसका प्रभावशाली ढंग से खंडन कर सकें। शास्त्रार्थ में बौद्ध विद्वानों को पराजित करके उन्होंने वेदों की, और उनमें निर्दिष्ट आचार-शास्त्र की, प्रतिष्ठा फिर से स्थापित की थी। वेदों को स्वतः-प्रमाण रूप और परम स्वतंत्र सिद्ध करने की दृष्टि से उन्हें यह भी प्रतिपादित करना पड़ गया था कि किसी सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान ईश्वर को मानना आवश्यक नहीं है।

काशी छोड़कर शंकर प्रयाग गए,[1] जहां गंगा, यमुना और अंतःसलिला सरस्वती का संगम है। वहां जाने में उनका उद्देश्य यही था कि कुमारिल भट्ट से मिलें और वेदांत में उनकी निष्ठा उत्पन्न कर, संभव हो तो 'ब्रह्मसूत्र भाष्य' पर उनसे एक वार्त्तिक (पद्य-टीका) लिखाएं। किंतु प्रयाग पहुंचने पर शंकर को बताया गया कि मीमांसा के

प्रचंड समर्थक कुमारिल तो तुषाग्नि (धान की भूसी की धीरे धीरे सुलगने वाली आग) में दग्ध.होकर अपने प्राण ही देने जा रहे हैं। यह कठोर प्रायश्चित्त करने का निश्चय कुमारिल ने अपने दो पाप-कृत्यों के लिए किया था—एक तो अपने बौद्ध गुरुओं को धोखा देना, और दूसरा, मीमांसक के रूप में, ईश्वर की सत्ता का अस्वीकार। शंकर तेजी से घटनास्थल पर पहुंचे। कुमारिल के शरीर का जलना शुरू हो चुका था, पर उनका चित पूर्ण रूप से सजग और शांत था। उन्होंने शंकर को बताया कि प्रायश्चित की क्रिया शुरू हो चुकने के बाद अब वह उससे विरत नहीं हो सकते थे। किंतु फिर भी उन्हें प्रसन्नता थी कि उनका अंतिम काल शंकर के सत्संग में बीतेगा। उन्होंने बताया कि वेदांत के सत्य के संबंध में अब उनके अंदर कोई संदेह नहीं रह गया है। पूर्व मीमांसा की अपर्याप्तता को प्रमाणित करने की दृष्टि से कुमारिल ने शंकर के सामने यह सुझाव रखा कि माहिष्मती जाकर वह कट्टर मीमांसक मण्डन मिश्र के साथ शास्त्रार्थ करें जिनका वेदों पर भी अच्छा अधिकार है और जो शास्त्रार्थ की कला में भी प्रवीण हैं।

अपने शिष्यों को लिए हुए शंकर, मण्डन के नगर माहिष्मती[2] के लिए चल दिए। 'माधवीय विजय' में दो संकेत इस बात के दिए गए हैं कि मण्डन वेदों के उद्‌भव विद्वान और कर्मकांड का प्रतिपादन करने वाले मीमांसा के मत के प्रबल अनुयायी थे। मण्डन के घर के द्वार पर पिंजड़ों में जो शुकांगनाएं (मैना) थीं वह निरंतर इस प्रकार के वाक्यों को दुहराती रहती थीं—"ज्ञान स्वतः-प्रमाण है, या परतः-प्रमाण ? फलदाता कर्म स्वतः है या ईश्वर ? संसार नित्य है, अथवा क्षणभंगुर ?"[3] शंकर जब घर पहुंचे, उसका दरवाजा अंदर से बंद था, क्योंकि मण्डन श्राद्ध के अनुष्ठान में लगे हुए थे। कहा जाता है कि शंकर अपने योग–बल से घर के अंदर जा पहुंचे। मण्डन, जो विश्वरूप के नाम से प्रसिद्ध थे, एक संन्यासी को अपने सामने देख आगबबूला हो गए और उन्हें भद्दी-से-भद्दी गालियां देते हुए बोले कि पितरों की सद्‌गति के लिए किए जाने वाले उस पावन धर्मानुष्ठान के समय उनका वहां क्या प्रयोजन ? संन्यासी की जब कर्मकांड में आस्था ही नहीं, तब ऐसे धार्मिक अनुष्ठान के समय किसी घर में वह क्यों आया ? मण्डन मिश्र अच्छी तरह जानते थे कि धर्मशास्त्रों के अनुसार, श्राद्ध करने वाले के लिए क्रोध करना निषिद्ध है, किंतु वेदांत और संन्यास आश्रम के प्रति उनकी घृणा ने उन्हें अंधा कर दिया था। व्यास और जैमिनी[4] उस अवसर पर वहीं उपस्थित थे और उन्होंने मण्डन मिश्र से अपना क्रोध शांत करने के लिए कहा, और शंकर से उस श्राद्ध के अवसर पर आतिथ्य ग्रहण करने का अनुरोध किया। मण्डन ने अपनी भूल समझी और श्राद्ध-भोज में सम्मिलित होने का उन्हें न्यौता दिया। शंकर ने उत्तर दिया कि वह भोजन के लिए नहीं, मण्डन के साथ शास्त्रार्थ करने आए हैं। मण्डन ने शास्त्रार्थ की चुनौती स्वीकार कर ली और अगला दिन उसके लिए निश्चित हुआ। बाजी यह

लगाई गई कि यदि मण्डन पराजित हों तो वह संन्यास लें और वेदान्त के अनुयायी हो जाएं और अगर हार शंकर की हो तो उचित प्रायश्चित्त करके वह श्वेत वस्त्र धारण करें और कर्मकांडी बन जाएं। इस महत्वपूर्ण शास्त्रार्थ में मध्यस्थता करने का काम मण्डन की विख्यात विदुषी स्त्री सरसवाणी[5] के सुपुर्द हुआ। दूसरे दिन, जब शास्त्रार्थ आरंभ हुआ, सरसवाणी ने दोनों ही प्रतिद्वंदियों को अपने अपने गले में धारण करने के लिए एक एक माला दी और कहा कि जिसकी माला पहले मुरझाने लगेगी वह पराजित माना जाएगा। इतना कह कर वह अपने घर के कामकाज में जुट गईं। 'शास्त्रार्थ का केंद्रीय विषय यह था कि वेद का अभिप्राय क्या है। मण्डन मीमांसा वाली व्याख्या का प्रतिपादन करते रहे और शंकर अद्वैत वेदांत की मान्यता का।

मण्डन और शंकर के बीच कई दिन तक शास्त्रार्थ चलता रहा। हर रोज जब सरसवाणी भोजन के लिए उन्हें बुलाने आती तो अपने पति से तो वह यह कहती थीं कि "कृपा उठिए और भोजन कीजिए", पर आचार्य शंकर से कहती थीं—"कृपा कर भिक्षा ग्रहण कीजिए।" शास्त्रार्थ के दिन जैसे जैसे बीतते जा रहे थे यह स्पष्ट होता जा रहा था कि मण्डन के नीचे से धरती खिसकती जा रही है। अंत में एक दिन उनके गले की माला भी कुम्हलाई दिखाई पड़ी। सरसवाणी की दृष्टि से यह छिपा नहीं रह सका कि उनके पति को पराजय स्वीकार करनी पड़ेगी और जो बाजी लगाई गई थी उसके अनुसार संन्यास लेना पड़ेगा। इसलिए उस दिन उन्होंने उसी हिसाब से उन दोनों को, एक साथ ही, यह कहकर भोजन के लिए बुलाया—"कृपा कर चलें, और भिक्षा ग्रहण करें।"[6]

मण्डन मिश्र ने पराजय स्वीकार की और अद्वैत के सत्य की अकाट्यता के अनुयायी हो, शंकर से प्रार्थना की कि वह उन्हें अपना शिष्य बना संन्यास की दीक्षा दें। शंकर ने उन्हें दीक्षित करते हुए उनका नया नाम सुरेश्वर रखा। बाद को सुरेश्वर 'वार्त्तिककार' के नाम से प्रसिद्ध हुए, क्योंकि उन्होंने आचार्य के भाष्यों, विशेषतः बृहदारण्यक और तैत्तिरीय उपनिषदों के भाष्यों पर वार्तिक लिखे। सरसवाणी ने भी अपने पति के मार्ग का अनुसरण किया और शंकर की शिष्य-मंडली में शामिल हो गई।

शंकर को पता चल गया कि उनकी माता का अंत निकट है। अपने दिए हुए वचन का स्मरण कर वह कालडि[7] पहुंचे। अपने बेटे को फिर आया देख माता खिल उठी। वह उनके भी गुरु हो गए और अध्यात्म का उपदेश दे उन्हें अपना अंत स्वीकार करने के लिए तैयार कर दिया, जिससे उनकी मृत्यु शांति और आत्मविश्वास के साथ हुई। शंकर के आत्मीय स्वजनों ने मां के अंतिम संस्कार करने से उन्हें रोकना चाहा। संन्यासी द्वारा दाह-क्रिया की बात का समर्थन भला वह कैसे कर सकते थे? उन्होंने पूरा असहयोग किया। शंकर ने अपनी मां के घर के बगीचे के एक कोने में केले के वृक्षों की उनकी चिता सजाई, और कोई भी सहायक न होने के कारण, शव के

टुकड़े टुकड़े करके उन्हें चिता पर रखने के लिए ले गए । और फिर, योगबल से चिता में अग्नि प्रज्ज्वलित कर दी । कहा जाता है कि उनके नम्बूदिरि आत्मीय-स्वजन तभी से शापग्रस्त चले आ रहे हैं जिसके फलस्वरूप अभी हाल तक वे लोग अपने शवों को कुछ क्षत–विक्षत करके, अपने घर के बगीचों में, जलाते आए हैं ।

अब शंकर के दिग्विजय के घनघोर अभियानों का ब्यौरा लीजिए । उन्होंने सारे भारत का एकाधिक बार भ्रमण किया—शायद तीन बार । जहां भी वह गए उन्होंने लोगों में प्राण फूंक दिए । विरोध का भी अवश्य सामना करना पड़ा । पर यह उन्होंने मधुर वाणी में और युक्तियों के आधार पर किया, और सबसे अधिक अपने अनुभव की समग्रता के बल पर । एक ऐसे काल में जब कि कितने ही झूठे मतों के चक्कर में पड़ी हुई भोली-भाली जनता गुमराह हो रही थी, और सनातनी लोगों के पास असनातनियों के नास्तिकतावाद के जवाब में सड़े-गले और बेमतलब के कर्मकांड से बढ़कर कोई दूसरा अच्छा मार्ग नहीं था, शंकर उपनिषदों के दर्शन की विस्मृतप्राय ऊंचाइयों तक फिर से जा चढ़े थे और वहां से लोक-कल्याण के लिए अमृत की पुनीत धारा बहाकर लाए थे ।

शंकर तोड़ने-फोड़ने के लिए नहीं, रिक्तता को भरने के लिए आए थे, परिपूर्णता देने; और उन्होंने अद्वैत के जिस दर्शन की शिक्षा दी उसे अन्य दार्शनिक मतों का प्रतिद्वंदी नहीं मानना चाहिए । शंकर के गुरु के भी गुरुदेव गौड़पाद पहले ही यह शिक्षा दे गए थे कि अद्वैत ओर द्वैतवादी मतों के बीच कोई विरोध हो ही नहीं सकता था । जिस प्रकार कोई अपने ही हाथ-पांव से लड़ाई नहीं करता, उसी प्रकार अद्वैत की भी अन्य दार्शनिक मतों के साथ कोई लड़ाई नहीं हो सकती । शंकर ने एकत्व और संपूर्णता की भावना को फिर से उपलब्ध किया था और उथल-पुथल तथा संघर्ष के उस युग में उसे लोगों के सामने ला रखा था; उनका उद्देश्य यही था कि विभिन्न मतवादों के बीच की खाई को पाटा जाए और विभिन्न अवयवों को संपूर्ण के कलेवर में यथास्थान बिठा दिया जाए । उनका लक्ष्य केवल ब्रह्म की अद्वैतता (ब्रह्माद्वैत) की स्थापना करना ही नहीं बल्कि दर्शनों की भी चरम अद्वैतता (दर्शनाद्वैत) की स्थापना करना था । इस संबंध में उन्होंने वेदों की ही मूल मान्यता का अनुसरण किया था, जो इस परम सत्य की घोषणा करके कि "सत्य एक है", तुरंत बाद ही, समन्वय की दृष्टि से, इतना और जोड़ देते हैं—"जो उसे जानते हैं वे विभिन्न प्रकारों से उसका प्रकाश करते हैं ।"

शंकर ने दूसरे सिद्धांतों ओर मतों की जो आलोचना की वह विध्वंसात्मक नहीं थी और उससे सनातनी मतों को जितना लाभ मिला उतना ही असनातनी मतों को भी । मीमांसकों और बौद्धों के बीच यों तो जन्मजात शत्रुता थी, पर नास्तिकतावादी सिद्धांतों के प्रतिपादन द्वारा उनके बीच अजीब ढंग का मैल बैठ गया था । शंकर को इन दोनों की ही एकांगिता को दूर करना था । किंतु शंकर की आलोचना उनके लिए

हानिकर नहीं सिद्ध हुई । कर्मकांड को ज्ञान मार्ग के प्रारंभिक सोपान के रूप में उसका उचित स्थान मात्र दे दिया गया । अहिंसा के जिस उच्च सिद्धांत पर बुद्ध ने इतना जोर दिया था, और जो वेदों के लिए अज्ञात नहीं था, उसे हिंदू आचार-दर्शन का एक आवश्यक अंग बना दिया गया और स्वयं बुद्ध ही विष्णु के एक अवतार मान लिए गए ।

दर्शन की ही भांति धर्म के क्षेत्र में भी शंकर की शिक्षाओं का लाभदायक परिणाम प्रकट हुआ । विभिन्न धार्मिक संप्रदायों और उनकी संस्थाओं में जो बुराइयां घर कर गई थीं उन्हें तो उन्होंने अवश्य दूर करना चाहा, और ऐसा करते हुए कई बार उनके प्राणों पर संकट भी आए, किंतु ईश्वर प्राप्ति के मार्ग के विभिन्न साधनों के रूप में उन्हें, उनके निर्मल रूपों में, उन्होंने कायम रहने दिया । ईश्वर के साकार रूप की धारणा, शंकर के मतानुसार, उच्चतम धारणा नहीं है । किंतु उनके लिए ईश्वर 'न तो अनावश्यक ही है और न ही आम लोगों को बहलाने भर का साधन ।' ईश्वर-भक्ति अद्वैत की अनुभूति के मार्ग का एक आवश्यक सोपान है । इसलिए, इस दृष्टि से, ईश्वर को दिया जाने वाला नाम नहीं, यह बात महत्वपूर्ण है कि उसकी उपासना कितनी सच्चाई और लगन के साथ की जाती है । 'हरि-स्तुतिः' में शंकर कहते हैं—"संसार-अंधकार के विनाशक हरि का गुणगान कर, जो एकमात्र सत्य है, और बुद्धि-भेद के कारण ही जिसे विविध संज्ञाएं दे दी गई हैं, यथा, ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, अग्नि, सूर्य, चंद्र, इंद्र, वायु और यज्ञ ।" धर्म का बखान भले ही विविध प्रकार से किया जाय, पर उसका सार एक ही है । शंकर ने सच्ची आध्यात्मिक सार्वभौमिकता का ही प्रतिपादन किया और स्वयं उसे अपने आचरण में उतारा । बिना किसी भेदभाव के उन्होंने अपने स्तोत्रों में ईश्वर के विभिन्न स्वरूपों की स्तुति की है । हिंदू धर्म के विभिन्न संप्रदायों का संस्कार करके शंकर ने उनको दृढ़ता प्रदान की ।

देवताओं की आंखों को जुड़ाने वाला था वह लुभावना दृश्य—कुमारावस्था के उस परिव्राजक का, अपने शिष्यों और अनुयायियों की एक खासी भीड़ को साथ लिए ऐक्य और शांति का मंत्र फूंकते हुए, जगह जगह घूमते फिरना । विभिन्न 'शंकर-विजय' नामक ग्रंथों में शंकर के इन भ्रमण–स्थानों के जो वर्णन दिए गए हैं उनमें काफी अंतर है । पर इस बात पर इन विवरणों में कोई मतभेद नहीं है कि शंकर ने सभी महत्व के तीर्थस्थानों की, विभिन्न धार्मिक पंथों के सभी बड़े बड़े गढ़ों की और विद्याध्ययन के सभी केंद्रों की यात्रा की थी । कहा जाता है कि देश भर में कम-से-कम बहत्तर धार्मिक पंथ और संप्रदाय मौजूद थे जो दलबंदी की दलदल में फंसे हुए थे और अपने जघन्य आचार–आचरण द्वारा निम्नकोटि की वासनाओं और भावनाओं को बढ़ावा दे रहे थे ।

आनन्दगिरि ने अपने 'शंकर-विजय'[8] में बड़े विस्तार से इस बात का ब्यौरा प्रस्तुत

किया है कि दिग्विजय की अपनी यात्रा में शंकर कहां कहां गए, विभिन्न धार्मिक मतों, विभिन्न आचार मानने वाले पंथों और संप्रदायों, और विभिन्न दार्शनिक मतवादों के अनुयायियों के साथ उनका क्या शास्त्रार्थ हुआ, जिसके फलस्वरूप उन अनुयायियों की वेद और वेदांत के प्रति किस तरह आस्था हुई। यहां हम उनमें से कुछ मुठभेड़ों का ही उल्लेख करेंगे। रामेश्वरम जैसे स्थानों में शैव मत के प्रतिनिधि शंकर से शास्त्रार्थ में भिड़ने आए। शैव-मत में भी कई संप्रदाय हैं — शैव, रौद्र, उग्र, भट्ट, जंगम और पाशुपत। सभी की मान्यता है कि रुद्र--शिव ही परमेश्वर हैं और उनकी पूजा-भक्ति द्वारा और शरीर पर शैव मतों के सूचक चिह्नों को धारण करने से ही मुक्ति मिलती है। उज्जयिनि में कापालिकों के साथ टक्कर हुई। जटाजूट बांधे, स्फटिक के मोतियों की माला पहने, और बाल-चन्द्र की रेखा का प्रतीक धारण किए वे लोग शंकर के पास आए और उनके सम्मुख उन्होंने इस सिद्धांत का प्रतिपादन किया कि भैरव ही सब जीवों के स्वामी हैं, और अखिल विश्व के संहारकर्ता होने के नाते एकमात्र वही सृष्टि के विधाता और पालनकर्ता हो सकते हैं। अनंतशयनम में विभिन्न वैष्णव संप्रदायों के अनुयायियों ने शंकर को शास्त्रार्थ के लिए आमंत्रित किया। मूल वैष्णव संप्रदाय के अतिरिक्त इनमें पांचरात्र, वैखानस, कर्महीन वैष्णव और अन्य शाखा-प्रशाखाओं के अनुयायी भी थे। उन्होंने यह प्रतिपादित करना चाहा कि अपने किसी-न-किसी रूप में विष्णु ही प्रमुख ईश्वर हैं, और वैष्णव आगमों का ही विशेष महत्व है और वे ही प्रामाणिक हैं। सुब्रह्मण्यस्थल में हिरण्यगर्भ पंथ के अनुयायियों ने अपने इस सिद्धांत का प्रतिपादन किया कि सूक्ष्म जगत की आत्मा, हिरण्यगर्भ, ही मूल देवता है। कुछ अलग अलग स्थानों में कई देवी-संप्रदाय भी मौजूद थे। तुलजाभवानीपुरम नाम के एक स्थान में प्रकृति के रूप में शक्ति की पूजा करने वालों का दावा था कि एकमात्र शक्ति ने ही सर्वथा स्वतंत्र रूप से सारी सृष्टि रची है, उसी ने सृष्टिकर्ता ब्रह्मा और अन्य देवताओं को जन्म दिया है, और भवानी के रूप में उन्हीं की पूजा करने से मुक्ति प्राप्त हो सकती है। इसी प्रकार, कुवलयपुरम नाम के नगर में महालक्ष्मी को मानने वाले संप्रदाय का कहना यह था कि धन-संपत्ति की वह देवी ही समस्त जीवों की जननी है। फिर, विद्या की देवी शारदा में आस्था रखने वाले भी थे। उनके अनुसार, शारदा की पूजा से मोक्ष की प्राप्ति सुनिश्चित थी।

पुरंगवरम में गणपति संप्रदाय के समर्थक शंकर से शास्त्रार्थ करने आए। इस संप्रदाय की भी छह शाखाएं थीं, जिनमें से प्रत्येक गणेश के छह रूपों में से किसी एक की भक्त थी—महागणपति, हरिद्रा-गणपति, उच्छिष्ट-गणपति, नवनीत-गणपति, स्वर्ण-गणपति और संतान-गणपति। इन सभी उपसंप्रदायों के प्रधान देवता गणपति हैं जो सभी बाधाओं का नाश करने वाले और परम मंगलदायक हैं। एक दूसरा संप्रदाय और था, जो सूर्य का उपासक था।

शंकर के अनुसार, इनमें से प्रत्येक संप्रदाय और मतवाद का एक ही जवाब है—अद्वैत। प्रत्येक सांप्रदायिक देवी-देवता, ईश्वर का ही एक रूप है—उसी में वे सब देवी-देवता अपने परमोत्कर्ष को प्राप्त करते हैं। ब्रह्मा, विष्णु और शिव की त्रिमूर्ति के रूप में ईश्वर ही ब्रह्मांड का संपूर्ण और एकमात्र कारण है। इनमें से किसी भी एक रूप की, या ईश्वरत्व के किसी निम्नतर स्वरूप की भी उपासना अंत में उपासक को उसके लक्ष्य के कुछ और निकट ही ले जाएगी। निःस्वार्थ सेवा, ईश्वर की किसी भी अभिव्यक्ति के प्रति भक्तिभाव, और मन का निग्रह करने वाले योग की साधना से श्रवण, मनन और निदिध्यासन युक्त ज्ञान-मार्ग का अनुसरण करने की क्षमता प्राप्त हो जाती है जिसका फल ब्रह्मानुभूति है, जो मोक्ष ही है। शंकर ने विभिन्न संप्रदायवादियों को यही समझाया कि वे अपनी संकीर्णता और कट्टरपन का परित्याग कर दें, विभिन्न पंथों और संप्रदायों के सूचक चिह्नों से अपने शरीर को दागना छोड़ दें, और उपासना तथा रहन-सहन की उच्चतर पद्धतियों को अपनाएं।

शिवोपासना से संबंधित तीन तीर्थस्थान ऐसे हैं जहां का स्थलवृक्ष अर्जुन का वृक्ष है—तिरुप्पुडैमरुदुर, जिसे पूतार्जुन भी कहते हैं (तिरुनलवेलि जिले में), तिरुविडैमरुदुर, जिसे संस्कृत में मध्यार्जुन कहते हैं (तंजवुर जिले में), और मल्लिकार्जुन, जो श्री-शैलम (आंध्र प्रदेश) में है। इन तीर्थस्थानों में से द्वितीय, अर्थात तिरुविडैमरुदुर में, शंकर के पहुंचने पर एक चमत्कार घटा। आचार्य कहते थे कि वहां के महामंदिर का महालिंग स्वयं अद्वैत के पक्ष का समर्थन करे। शंकर की प्रार्थना पर उस महालिंग से भगवान शिव का आविर्भाव हुआ, और उन्होंने अपना दाहिना हाथ उठा कर घोषणा की—"सत्यम् अद्वैतम्, सत्यम् अद्वैतम, सत्यम् अद्वैतम्।" जिन्होंने भगवान के इस रूप के दर्शन किए वे अत्यंत प्रसन्न हुए और उन्होंने शंकर को अपना आचार्य मान लिया।

मल्लिकार्जुन (श्री-शैलम) में एक दूसरे ही प्रकार का चमत्कार घटा। उन दिनों श्री-शैलम कापालिक संप्रदाय का गढ़ था। इस संप्रदाय के अनुयायियों ने जब देखा कि शास्त्रार्थ में शंकर को हराना आसान नहीं है तब उन्होंने उनकी हत्या करने का षड्यंत्र रचा। जब वह अकेले थे तब उनके पास उन लोगों का एक प्रतिनिधि पहुंचा। वह कापालिक शंकर से बोला—"आपका तो जीवन में एक ही व्रत है—दूसरों की सहायता करना। मैंने दीर्घकाल तक शिवोपासना की है। उन्हें प्रसन्न करने हेतु मुझे बलि चढ़ाने के लिए या तो किसी सर्वज्ञ साधु का या किसी सम्राट का सिर चाहिए। किसी सम्राट तक तो मेरी पहुंच नहीं। आप पक्के साधु हैं। क्या मुझे आपका सिर मिल सकता है?" शंकर ने मुसकराते हुए जवाब दिया—"आपकी इच्छा पूर्ण करने में मुझे कोई आपत्ति नहीं पर आप ऐसे समय आइए जब मैं गहरी समाधि में रहूं, और मेरा कोई शिष्य मेरे निकट न हो।" कापालिक ने वैसा ही किया। पर वह अपना जघन्य कार्य करने को उद्यत ही हुआ था कि नृसिंह के रूप में किसी ने आकर उसी का वध कर

दिया। यह कोई और नही, स्वयं पद्मपाद था—शंकर का प्रथम शिष्य। पद्मपाद स्नान करने गया हुआ था, पर उसे कापालिक के उस षड्यंत्र का पूर्व-बोध हो गया। उसने अपने इष्टदेव नृसिंह का ध्यान किया। साक्षात नृसिंह भगवान ही मानो उसकी काया में प्रविष्ट कर गए और ठीक समय पर वहां पहुंचकर उन्होंने उस दारुण विपत्ति का निवारण किया। शंकर ने तो केवल कापालिक को मरा पड़ा देखा, और निकट ही नृसिंह-रूप को भी। कुछ क्षण बाद उस रूप के स्थान पर श्रद्धावनत पद्मपाद दिखाई पड़ा, जिसे कुछ पता ही नहीं था कि क्या से क्या हो गया।

अपने छुटपन में पद्मपाद नृसिंह का परम भक्त था। किसी ने नृसिंह-मंत्र से दीक्षित कर उसे उनकी उपासना में लगा दिया था। पद्मपाद, जिसका उस समय का नाम विष्णु शर्मा था, एक पहाड़ी के नीचे के जंगल में चला गया और उस मंत्र का जाप करते हुए घोर तपस्या में लीन हो गया। एक शिकारी कई दिन से यह देख रहा था। एक दिन उसने उससे पूछा, "वह क्या कर रहा है ?" पद्मपाद ने यह कहकर उसे टाल देना चाहा, कि "इस तरह के जंगलों में नृसिंह का अड्डा रहता है; मैं उसे देखने आया हूं।" पर शिकारी का कुतूहल और भी बढ़ गया। उसने जानना चाहा कि नृसिंह कैसा होता है; वह किस तरह का सिंह है ? पद्मपाद ने बताया—"नृसिंह की देह का निचला भाग तो मनुष्य का होता है और उपरला भाग सिंह का।" शिकारी नृसिंह की खोज में निकल पड़ा और वादा कर गया कि अगला दिन बीतने से पूर्व वह उसे ले आएगा। निरंतर नृसिंह की ही भावना में लीन उस शिकारी ने जंगल का कोना कोना छान डाला, पर वह उसे कहीं नहीं मिला। दूसरा दिन बस अब बीतने को ही था। शिकारी ने अपने प्राण दे देने का निश्चय कर लिया। उसी समय नृसिंह का आविर्भाव हुआ। शिकारी ने फटकारा कि उसने इतनी देर क्यों की; और एक जंगली बेल से उसे बांधकर घसीटता हुआ, पद्मपाद के पास लाकर बड़े उत्साह से चिल्लाकर बोला—"यह देखो, पकड़ लाया नृसिंह को।" पर पद्मपाद को कुछ नहीं दिखाई पड़ा, सिर्फ नृसिंह की आवाज सुनाई दी—"शिकारी को मेरा स्वरूप इसलिए दिखाई दिया कि उसने बड़ी एकाग्रता से मेरा ध्यान किया। पर तुम मेरी आवाज ही सुन सकते हो। अब तुम्हें जब भी आवश्यकता होगी, मैं तुम्हारे पास आ जाऊंगा।" इसी घटना के बाद चोल देश का वह नवयुवक विष्णु शर्मा काशी पहुंचा और शंकर का शिष्य हो गया। और अब, श्री-शैलम में, पद्मपाद, नृसिंह की कृपा से अपने गुरु के प्राण बचाने में समर्थ हो सका।

शंकर की कश्मीर-यात्रा का विवरण देकर ही हम इस अध्याय को समाप्त करेंगे। चीनी यात्री ह्वेनसांग-त्सांग ने, जो 631 ईसवी में कश्मीर गया था और दो साल वहां रह कर "सूत्रों और शास्त्रों" का अध्ययन करता रहा था, वहां के पांडित्य की भारी प्रशंसा करते हुए लिखा है—"प्राचीन काल से ही यह देश पांडित्य के लिए प्रसिद्धि प्राप्त

कर चुका है और यहां के पंडितों में से सब-के-सब न केवल अत्यंत धार्मिक और सदाचारी बल्कि बड़े ही प्रतिभाशाली, और सिद्धांतों का स्पष्ट प्रतिपादन करने वाले हैं, संस्कृत के अपने पांडित्य और संस्कृति के ज्ञान के लिए कश्मीरी पंडितों का बड़ा ही सम्मान था। यह स्थान काशी के समान ही पवित्र माना जाता था। बाद के एक पर्यटक अबुल फजल ने, जो अकबर का दोस्त, सलाहकार और रहनुमा था, स्पष्ट ही कश्मीर घाटी की प्राकृतिक शोभा और वहां के पवित्र वातावरण से मुग्ध होकर वहां की तारीफ में लिखा था, —"इस देश के लिए यह कम तारीफ की बात नहीं है कि एक ओर तो दुनियादार लोगों को यह रिझा लेता है और दूसरी ओर संसार-त्यागी एकांत-प्रेमी साधु-संन्यासी भी इसकी शरण लेते हैं।" कश्मीर में हिंदू धर्म, अपने शैव और शाक्त, दोनों रूपों में तो फैला ही हुआ था, साथ ही बौद्ध धर्म भी वहां व्यापक रूप से प्रचलित था। ह्युत्सान-त्सांग के हिसाब से, उस समय, कश्मीर घाटी में 100 से अधिक बौद्ध विहार और 5000 से अधिक बौद्ध मतावलंबी थे। प्रमुख हिंदू संप्रदायों के मंदिरों, मठों आदि की संख्या तो बहुत ही अधिक थी। कश्मीर की भूमि आस्तिक और नास्तिक दोनों ही प्रकार के धर्मों और दार्शनिक मतवादों की वृद्धि के लिए अत्यंत उर्वर और उदार थी।

शैव मत का कश्मीरी रूप, जो 'प्रत्यभिज्ञा', अथवा 'त्रिका' के नाम से ज्ञात है, एकत्ववाद या अद्वैत का ही एक प्रकार है, क्योंकि उसके अनुसार, परम सत्य स्वरूप शिव ही सभी जीवों की आत्मा है, और उनसे पृथक कोई दूसरा सत्य नहीं है। शिव को 'अनुत्तर' कहा गया है—वह सत्य जिसके परे कुछ नहीं है। और वही शुद्ध चेतन, स्वरूप, परम अनुभूति स्वरूप, परमात्मा है। उन्हीं से संसार एक भासमान सत्ता या प्रतिबिंब के रूप में उत्पन्न होता है। किंतु यह भासमान सत्ता, कश्मीरी शैव मत के अनुसार, वास्तविक सत्ता है, जबकि अद्वैत वेदांत के अनुसार संसार-प्रपंच मिथ्या है। मजे की बात यह है कि शंकर ने अपने 'दक्षिणामूर्ति स्तोत्र' में, अद्वैत वेदांत के सिद्धांतों की व्याख्या करने के लिए कश्मीरी शैव मत में व्यवहृत मूल शब्दों में से भी कुछ का उसी तरह प्रयोग कर लिया जिस प्रकार उनके परमगुरु (गुरु के गुरु) गौड़पाद ने अपनी 'माण्डूक्य कारिका' में, उसी दृष्टि से, बौद्ध शब्दावली का प्रयोग किया है। 'दक्षिणामूर्त्ति स्तोत्र' में संसार की तुलना, मानो जादू के जोर से दर्पण में पड़ने वाले किसी नगर के प्रतिबिंब के साथ की गई है; किसी जादूगर या किसी महायोगी द्वारा दिखाई जाने वाली भ्रांति की ही भांति उसे मिथ्या या माया, बताया गया है; प्रकृति और देह तथा मन की रचना करने वाले विभिन्न उपादानों समेत सभी भौतिक तत्व माया के ही खेल हैं; अविद्या के भ्रम में पड़कर आत्मा संसार की धारा में बह जाती है, पर जब वह जाग उठती है और अपने सच्चे, अद्वैत, आत्म-स्वरूप को पहचान लेती है (प्रत्यभिज्ञायते) तब वह पुनर्जन्म की यातनाओं से छुटकारा पा जाती है; दक्षिणामुख जगद्गुरु के रूप

में शिव भी, अपनी चिन्मुद्रा द्वारा, एक भी शब्द का उच्चारण किए बिना ही, अद्वैत के ही सत्य का उपदेश दे रहे हैं। इस प्रकार, इस छोटे से स्तोत्र में शंकर ने, कश्मीरी शैव मत की भाषा में, अद्वैत वेदान्त की विशेषताओं की व्याख्या की है।

शाक्त मत भी कश्मीरी शैव मत की भांति अद्वैत का ही एक रूप है, किंतु अंतर यह है कि इसमें साधना के लिए परम सत्ता के शक्ति-रूप पर जोर दिया गया है। इस मत के अनुयायियों के लिए कश्मीर एक महत्वपूर्ण तांत्रिक केंद्र है। आर्यावर्त को, जो कि भारत ही है, श्री–चक्र का बिंदुत्रिकोण कहा जाता है, जिसके तीन कोने कश्मीर, नेपाल और कन्याकुमारी हैं, और केंद्र-बिंदु काशी। इस मान्यता के अनुसार, कश्मीर को भगवान कामेश्वर की पत्नी कमेश्वरी का देश माना गया है। कल्हण ने अपनी 'राज-तरंगिणी' में (जो 1148-49 ईस्वी में रची गई) कश्मीर में देवी शारदा के एक मंदिर का उल्लेख किया है जहां ललितादित्य के राज्यकाल में गौड़ (बंगाल के) लोग दर्शनार्थ आया करते थे। (एक विवरण के अनुसार शंकर गौड़ देश की अपनी यात्रा के बाद कश्मीर गए थे।) एम. ए. स्टीन ने, जिन्होंने 'राज-तरंगिणी' का अंग्रेजी में अनुवाद किया है, कृष्णगंगा की उपरली घाटी के शारदी नाम के स्थान पर इस मंदिर का होना बताया है। इस तीर्थ की लोकप्रियता के बारे में अलबरूनी ने लिखा है कि "कश्मीर के अंदरूनी हिस्से में, राजधानी से बोलोर पर्वत की ओर की दो-तीन दिन की यात्रा पर, 'शारदा' नाम की एक काष्ठ प्रतिमा मिलती है जिसका बड़ा महात्म्य है और जिसका दर्शन करने के लिए बराबर तीर्थयात्री आते रहते हैं।" स्टीन के अनुसार, बाद को, भक्तों की सुविधा के विचार से, उस प्राचीन मंदिर की ही देखादेखी एक दूसरा मंदिर श्रीनगर के निकट ही बना दिया गया।

कश्मीर के शारदा-मंदिर तक शंकर के पहुंचने की कथा 'माधवीय शंकर विजय' के अंतिम अध्याय में दी गई है। एक दिन प्रातःकाल जब शंकर अपने शिष्यों के साथ गंगा के तट पर पड़ाव डाले हुए थे, उन्हें कश्मीर की बड़ी प्रशंसा सुनने को मिली और पता चला कि वहां विद्या की देवी शारदा का एक मंदिर है। उस मंदिर में, जो चार द्वारवाले एक मंडप के रूप में बनाया गया था, 'सर्वज्ञपीठ' नाम का देवी का एक आसन था। उस ऊंचे आसन तक उसी की पहुंच हो सकती थी जो स्वयं सर्वज्ञ हो। उत्तर, पूर्व और पश्चिम से आने वाले कितने ही पंडित अब तक उस मंदिर में प्रवेश करने का प्रयत्न कर चुके थे, पर दक्षिण से अभी तक किसी ने यह प्रयास नहीं किया था। शंकर दक्षिण के ही रहने वाले थे, और उन्होंने जब यह बात सुनी तो वहां जाकर अद्वैत की सर्वव्यापकता और सर्वश्रेष्ठता को सिद्ध करने की उनकी इच्छा हुई। कश्मीर पहुंचने पर जब वह उस मंदिर के दक्षिणी द्वार पर जा खड़े हुए तब विभिन्न संप्रदायों के पंडितों ने उन्हें रोका और उनके, या अद्वैत के, सर्वज्ञता के दावे को चुनौती दी। वैशेषिक परमाणुवादी, नैयायिक तार्किक, सांख्य द्वैतवादी, बौद्ध और जैन, एक एक कर सभी शंकर

के साथ शास्त्रार्थ में भिड़े। शंकर ने केवल इसी बात का प्रमाण नहीं दिया कि उन सभी मतों के दर्शन का उन्हें अंतरंग ज्ञान है, बल्कि अपने विरोधियों को उन्होंने अद्वैत की श्रेष्ठता का भी पूरी तरह से कायल कर दिया। शास्त्रार्थ करने के लिए सबसे आखिर में आने वाले पूर्व-मीमांसक थे जिन्होंने यह सिद्ध करना चाहा कि वेदों का अभिप्राय कर्मकांड से ही है। उनकी युक्तियों का खंडन करते हुए शंकर ने दिखा दिया कि शास्त्रों का वेदांत के साथ ही पूरा मेल बैठता है, और इस प्रकार वेदांत के दावे को प्रमाणित कर दिया। शारदा-मंदिर का द्वार खुल गया। शारदा ने स्वयं अंतिम परीक्षा ली और पंडित-मंडली के समक्ष सिद्ध कर दिया कि अपने पांडित्य और चरित्र दोनों के ही बल पर शंकर सर्वज्ञ पीठ तक पहुंचने के अधिकारी हैं। शंकर ने इस गौरव को अपना व्यक्तिगत गौरव नहीं माना। जैसा कि 'माधवीय शंकर विजय' के रचयिता ने एक प्रारंभिक अध्याय में कहा है, शंकर ने विभिन्न कोटि के विरोधियों को अपने व्यक्तिगत लाभ या सम्मान के लिए नहीं पराजित किया था, क्योंकि अहंभाव तो उनमें नाममात्र को भी नहीं था, बल्कि वेदांत के निंदकों और उसकी तोड़-मरोड़ करने वालों से उसके पुरातन सत्य का उद्धार करने के लिए किया था।

शंकर की कश्मीर-यात्रा से संबंधित कितनी ही किंवदंतियां प्रचलित हैं। एक यह है कि कश्मीर में शंकर की मुठभेड़ अभिनवगुप्त नाम के एक शाक्त से हुई। शाक्त मत के उस नेता ने पराजित हो जाने पर अपने तंत्र-बल से शंकर के शरीर में एक घातक रोग पैदा कर दिया। पर अपने शिष्यों की अत्यंत भक्तिपूर्ण सेवा से वह बच गए। एक दूसरी किंवदंती यह है कि किसी ब्राह्मणी की पुत्र-वधू ने शाक्त मत पर उनके साथ शास्त्रार्थ किया, और उस मत के दर्शन में उस युवती का परम पांडित्य देख शंकर इतने प्रसन्न हुए कि उन्होंने उसे 'तरंग' नाम का एक विशिष्ट शिरोवस्त्र पहनने के लिए दिया, जिसे आज भी कश्मीर की ब्राह्मणियां पहनती हैं। एक जनश्रुति के अनुसार शंकर ने कश्मीर में "सौन्दर्य-लहरी" की रचना की। शंकर द्वारा रचित माने गए विभिन्न स्तोत्रों में इस स्तोत्र का सबसे ऊंचा स्थान है एक सौ छंदों के इस समूचे स्तुतिकाव्य में श्री-चक्र के तांत्रिक मत की प्रामाणिकता व्याख्या के साथ साथ सौंदर्य की प्रतिभा-स्वरूपा देवी के रूप का हृदयग्राही वर्णन है। 'समय-आचार' शाक्त-साधना की वैदिक विधि है, और उसकी रूपरेखा स्पष्ट करते हुए शंकर ने साधक को यह बताया है कि शक्ति की उपासना का चरम लक्ष्य अद्वैत की उपलब्धि है।

शंकर की कश्मीर-यात्रा और उनकी आध्यात्मिक विजय के स्मारक के रूप में वहां की एक पहाड़ी के ऊपर एक मंदिर है, और उस पहाड़ी और मंदिर दोनों के ही नाम उन्हीं के पुनीत नाम पर रखे गए हैं। शंकराचार्य मंदिर शंकराचार्य पर्वत पर है, जिसे तख्त-ए-सुलेमान की पहाड़ी भी कहा जाता है। श्रीनगर के शहर से मिली-जुली ही 1000 फुट ऊंची पहाड़ी की चोटी पर खड़ा यह मंदिर बड़ा ही भव्य दिखाई देता

है । यह मंदिर कब बना, इस संबंध में कई अनुमान लगाए गए हैं । स्थानीय जनश्रुति के आधार पर जनरल कनिंघम ने जलौक को इसका निर्माता बताया है, जो अशोक का पुत्र था (लगभग 220 ईसा पूर्व) । किंतु मंदिर की स्थापत्य कला के आधार पर फर्गुसन इस मत को स्वीकार नहीं करते । सभी विभिन्न मतों की परीक्षा करने के बाद रामचन्द्र काक इस निर्णय पर पहुंचे हैं कि शंकराचार्य मंदिर 700 ईस्वी पूर्व के आसपास ही कभी बना होगा ।

कश्मीर घाटी के निवासियों पर कश्मीर की शंकर-यात्रा का कितना गहरा प्रभाव पड़ा और उसके फलस्वरूप उनका दृष्टिकोण कितना व्यापक बन गया तथा उनके अंदर कितनी आध्यात्मिक गहराई आ गई, इसे स्पष्ट करने के लिए कुछ उदाहरण देना आवश्यक है । राज-तरंगिणी के रचयिता कल्हण जन्म से शैव थे, पर उन्होंने सभी धर्मों और संप्रदायों का समान आदर किया ।, अपने पिता और भाई के बाद कश्मीर की राजगद्दी पर बैठने वाले जैन-उल-अबीदीन (1421-1472 ईस्वी) ने उनके द्वारा वहां के हिंदुओं पर किए गए अत्याचारों का प्रायश्चित करने की भरपूर कोशिश की । हिंदुओं को अशक्त बनाने के लिए उन पर जो प्रतिबंध लगा दिए गए थे उन्हें उसने दूर किया, जो देश छोड़ कर भाग गए थे उन्हें फिर वापस बुलाया और उनकी भूमि और संपत्ति उन्हें लौटा दी, और नाना प्रकार से हिंदू धर्म के प्रति अपना अनुराग प्रकट किया । उसने संस्कृत सीखी और हिंदुओं के धर्मग्रंथों का श्रद्धापूर्वक अध्ययन किया । अपने बेटों के आपसी झगड़ों के कारण उसके जीवन के अंतिम वर्ष बड़े ही दुख में बीते थे, पर योगवशिष्ठ में प्रतिपादित अद्वैत दर्शन से उसने शांति प्राप्त की थी । अबुल फ़जल ने, जिसका उल्लेख पहले हो चुका है, कश्मीर के ब्राह्मणों की बड़ी प्रशंसा की है और उन्हें आध्यात्मिकता से ओतप्रोत बताया है । "इस देश का सबसे प्रतिष्ठित वर्ग ब्राह्मणों का है", वह लिखता है, "और दकियानूसी परंपराओं और रस्म-रिवाजों में बंधे होने पर भी वे ईश्वर के पक्के भक्त हैं । ये लोग अपने धर्म से भिन्न धर्म वालों की निंदा नहीं करते फिरते, और न भीख मांगते या दीन हो गिड़गिड़ाते हैं ।" पिछले एक हजार वर्षों की अवधि में, भारत की ही भांति, कश्मीर भी अगर नाना बाधाओं के बीच अपनी संस्कृति को सुरक्षित रख पाया है तो इसका श्रेय शंकर को कम नहीं है, जिन्होंने अद्वैत की पक्की नींव पर हिंदू धर्म को संघटित करने में ही अपना सारा जीवन खपा दिया

---

1. **'चिदविलास' के अनुसार यह स्थान 'रुद्र' है, जहां उस समय किसी भद्रसेन का राज था । आनन्दगिरि के अनुसार यह स्थान 'रुद्रपुर' है ।**
2. **मण्डन के निवासस्थान के बारे में कई मत हैं । 'माधवीय शंकर विजय' के अनुसार, वह विदर्भ देश में रहते थे ; 'चिद्‌विलासीय' के अनुसार, कश्मीर**

में; और 'व्यासाचलीय' के अनुसार, मगध में । आनन्दगिरी के अनुसार वह हस्तिनापुर के निकट 'विद्यालय' में रहते थे, जिसे स्थानीय रूप में 'बिजिलाबिंदु' कहा जाता था ।

3. आनन्दगिरि के 'शंकर-विजय' में शुकांगनाओं द्वारा उच्चारित इस प्रकार के और भी कितने ही वाक्य दिए गए हैं ।
4. आनन्दगिरि ने श्राद्ध के उस अवसर पर उपस्थित अतिथियों में केवल व्यास का ही उल्लेख किया है ।
5. जनश्रुति की परंपरा के अनुसार, सरसवाणी सरस्वती की ही अवतार थीं । उनके जो अन्य नाम दिए गए हैं वे हैं: भारती, उभयभारती, द्वय-भारती, और शारदा ।
6. शंकर के चरित-लेखकों ने यहां एक अप्रासंगिक क्षेपक घुसा दिया है जिसके अनुसार सरसवाणी ने शंकर के साथ शास्त्रार्थ करना चाहा और शंकर ने कामशास्त्र की शिक्षा लेने के लिए मृत राजा अमरुक के शव में प्रवेश किया ।
7. 'माधवीय शंकर विजय' के अनुसार, शंकर को दिव्यदृष्टि से पता चल गया कि उनकी माता का अंत निकट है । वह तब शृंगेरी में थे और वहीं से कालडि की ओर छूट चले । व्यासाचल के अनुसार, यह घटना काशी में व्यास के साथ हुए शंकर के शास्त्रार्थ के बाद घटी । 'चिद्विलास' के अनुसार शंकर के काशी छोड़ते ही यह बात हुई ।
8. अध्याय 4-51 । आनन्दगिरि के अनुसार यह यात्रा व्यास के साथ हुए उनके मिलन के पहले हुई थी, जिन्होंने एक वृद्ध का वेष धारण कर उनके साथ इस वास्तविक उद्देश्य से शास्त्रार्थ किया था कि उनके 'ब्रह्मसूत्र भाष्य' की कड़ी आलोचना कर उनकी परीक्षा ली जाय ।

4. लक्ष्य की सिद्धि

बदरीनाथ और केदार से रामेश्वरम और कन्याकुमारी तक शंकर ने सारे देश का कई बार भ्रमण किया। उन्होंने सनातनधर्म की पुनः प्रतिष्ठा की, उसकी आत्मा को फिर से जाग्रत किया और कालांतर में उसके अंदर जो विकार आ गए थे उन्हें दूर किया।

शंकर को सबसे पहले जो पग उठाने थे उनमें एक था हिंदुओं के बीच धार्मिक सामंजस्य की स्थापना। जैसा कि हम पहले ही देख चुके हैं, इसका प्रयत्न उन्होंने एकत्व के सिद्धांत के आधार पर किया, जिसका नाम ही अद्वैत है। हिंदू धर्म में अनेकानेक मत और संप्रदाय रहें, पर उनके बीच झगड़ा होने की क्या बात है ? और उनमें से कोई एक ही क्यों यह दावा करे कि वह अकेला ही पूर्णतया सत्य और सबसे अधिक पावन है ? छह प्रमुख हिंदू मतों का शुद्धीकरण और समन्वय करने का प्रयत्न करने के कारण ही उन्हें 'षण्मतस्थापकाचार्य' (शैव, वैष्णव, शाक्त, सौर, गाणपत्य और कौमार—इन छह मतों के स्थापक) की संज्ञा दी गई थी। विभिन्न मतों के बीच सामंजस्य की भावना की वृद्धि करने के लिए शंकर ने जो ठोस कदम उठाए थे उनमें से एक था उपासना की 'पंचायतन' पद्धति का प्रचार। इस पद्धति के अनुसार, आदित्य, अम्बिका, विष्णु, गणनाथ और महेश्वर—इन पांच देवताओं की पूजा संयुक्त रूप से की जाती है, और इन पांच में प्रधान स्थान उस देवता को दिया जाता है जो उपासक का इष्टदेव होता है। 'मार्कण्डेय संहिता' के अनुसार, शंकर ने अपने शिष्यों से कहा था कि अद्वैत के अनुयायियों को पंचायतन उपासना करनी चाहिए।

हिंदुओं के धार्मिक जीवन में मंदिरों और तीर्थों का बहुत बड़ा स्थान है। शंकर ने इनमें से अधिकांश की तीर्थयात्रा की थी और जहां भी आवश्यक जान पड़ा उन्होंने पूजा की अशुद्ध पद्धति को शुद्ध किया, जीवों की बलि पर रोक लगाई, देवताओं के क्रुद्ध, रौद्र रूप को दयालु रूप में परिणत किया, और इसी प्रकार की अन्य पद्धतियां अपनाईं। आज भी कितनी ही जनश्रुतियां प्रचलित हैं जिनसे इस बात के ब्यौरे मिलते हैं कि शंकराचार्य ने हिमालय से ले कर कन्याकुमारी तक, कश्मीर से नेपाल और असम तक, द्वारका से पुरी तक, देश के विभिन्न भागों में देव-मंदिरों को पावन रूप देने के लिए क्या क्या किया।

एक जन-परंपरा के अनुसार शंकर कैलाश से पांच स्फटिक लिंग लाए और उन्हें पांच तीर्थस्थानों में स्थापित किया—मोक्ष-लिंग को चिदम्बरम के मंदिर में, मुक्ति-लिंग को केदार में, वर-लिंग को नेपाल के नीलकंठ में, योग-लिंग को कामकोटि कांची में, और भोग-लिंग को शृंगेरी के शारदापीठ में ।

शंकर वैष्णव, शैव, शाक्त आदि सभी प्रकार के मंदिरों में गए । कालडि में जो चूर्णा नदी थी उसके संबंध की उस जनश्रुति का उल्लेख पहले हो चुका है जिसके अनुसार शंकर ने उसके प्रवाह को बदल दिया था और वह उनके पैतृक घर के पास से बहने लगी थी । उस नदी के मूल-तट पर एक कृष्ण-मंदिर था । नदी का प्रवाह बदल जाने से जब वह टूट गया तो शंकर ने उसका जीर्णोद्धार करा के फिर से उसकी प्रतिष्ठा कराई । इस प्रकार, कालडि छोड़ने से पहले ही वह एक मंदिर की पुनर्प्रतिष्ठा करा चुके थे जहां आज तक कृष्ण के रूप में विष्णु की उपासना होती है । अपनी दिग्विजय के दौरान शंकर अनाथशयनम (त्रिवेंद्रम) जैसे कई विख्यात विष्णु-मंदिरों में गए । हिमालय से ले कर कन्याकुमारी तक हमारे देश में अनेकानेक विख्यात विष्णु-मंदिर बिखरे हुए हैं । कहा जाता है कि हिमालय के परमपावन तीर्थ बदरिकाश्रम में शंकर की व्यास मुनि से भेंट हुई जिनसे उन्होंने 'सूत्रभाष्य' लिखने के लिए आशीर्वाद प्राप्त किया । यहीं अपने परमगुरु गौड़पाद के उन्हें दर्शन मिले । किंवदंती यह है कि वहां की एक परवर्ती यात्रा में शंकर को भगवान नारायण ने दर्शन दिए और उन्हें आज्ञा दी कि अलकनंदा नदी की गोद में पड़ी हुई भगवान की प्रतिमा को वहां से उठा कर वह उसे नदी के तट पर एक मंदिर बना कर उसमें प्रतिष्ठित कर दें । शंकर ने वैसा ही किया, और बदरीश के मंदिर के प्रधान पुजारी आज तक नम्बूदिरि लोग ही होते आ रहे हैं । शंकर ने तिरुपति के मंदिर में जाकर श्री वेंकटेश्वर के दर्शन किए, और कहा जाता है कि वहां उन्होंने मंदिर में धनाकर्षण यंत्र रख दिया । श्रीरंगम के श्रीरंगनाथ मंदिर में उन्होंने जनाकर्षण यंत्र बिठाया—ऐसा यंत्र जो लोगों को आकर्षित करे ।

शंकर जिन शिव-मंदिरों में गए उनमें से रामेश्वरम, तिरुविडे-मरुदुर (मध्यार्जुन), चिदम्बरम, श्रीशैलम, उज्जयिनी, नीलकंठ क्षेत्र (नेपाल) और केदार के मंदिरों के उल्लेख पहले ही हो चुके हैं । इनके अतिरिक्त शंकर जिन मंदिरों के दर्शन के लिए गए उनमें सौराष्ट्र का सोमनाथ का मंदिर, नासिक के निकट का त्र्यंबकेश्वर का मंदिर, जहां गोदावरी का स्रोत है, और पश्चिमी तट का गोकर्ण मंदिर प्रमुख हैं ।

मैसूर राज्य में शंकर की हरिहर की तीर्थयात्रा के बारे में एक रोचक किंवदंती है । उन दिनों वह वैष्णवों का एक बहुत बड़ा केंद्र था । शंकर ने जब मंदिर में जा कर भगवान के दर्शन करने की इच्छा प्रकट की तब मंदिर के अधिकारियों ने, यह देखकर कि शंकर संन्यासी हैं और उनके शरीर पर विभूति और रुद्राक्ष जैसे शैव चिह्न मौजूद हैं, उन्हें रोक दिया । शंकर ने विस्तार से उन्हें समझाया कि विष्णु और शिव

में कोई अंतर नहीं है, और यह भी कि मंदिर के अंदर की प्रतिमा परम ब्रह्म की ही प्रतिमा है । यह बात उन लोगों की समझ में आ गई । मंदिर के द्वार खोल दिए गए और शंकर को अंदर प्रवेश करने दिया गया । कहा जाता है कि उन वैष्णव पुजारियों के आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा जब उन्होंने देखा कि देवता की प्रतिमा आधी विष्णु की थी और आधी शिव की—अर्थात हरि-हर की ।

शांक्तों की उपासना-पद्धति बड़ी भ्रष्ट हो चुकी थी और कितने ही मंदिरों में मां दुर्गा को रक्त की प्यासी देवी का रूप दे दिया गया था । शंकर ने उपासना की पद्धति में परिवर्तन कराया और देवी के रौद्र रूप को बदलकर उन्हें फिर से दयामयी जगत-जननी का रूप दिया, जो उनका सच्चा रूप है । उन्होंने कई मंदिरों में श्रीचक्र की स्थापना कर जगत का मंगल करने की उनकी शक्ति में वृद्धि कर दी । इलाहाबाद के देवी-मंदिर में, कहा जाता है, शंकर ने श्रीचक्र की स्थापना की । पश्चिमी तट स्थित मुकांबी में देवी उन दिनों अपना भीषण रूप ही धारण किए हुए थीं और उनके मंदिर पर शाक्त मत के उपासकों का ही अधिकार था । शंकर ने वहां देवी की प्रतिमा के सामने श्रीचक्र की स्थापना की व्यवस्था करा दी, और इस प्रकार देवी से दयामयी मुद्रा ग्रहण कराई । इसी प्रकार का पावन कार्य उन्होंने मद्रास में तिरुवोर्रियुर के मंदिर में कराया । त्रिपुरसुंदरी के मंदिर के प्रधान पुजारी आज तक नम्बूदिरि लोग ही होते आ रहे हैं । त्यागराज मंदिर के अंतः-प्राकार में शंकर की भी प्रतिमा है । शंकर जिन अन्य मंदिरों में गए उनमें मदुरा का मीनाक्षी मंदिर और तिरुचि का शैल मंदिर प्रमुख हैं । शैल मंदिर के सुगंधिकुंतलाम्बिका देवी के मंडप की दीवालों पर "सौन्दर्य-लहरी" के छंद लिखे हुए हैं । कांची के कामाक्षी देवी के मंदिर में तो शंकर का आगमन बहुत ही महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ । हिंदू धार्मिक मान्यता के अनुसार मोक्ष की प्राप्ति को सुलभ बनाने वाले सात स्थान माने जाते हैं जिन्हें मोक्षपुरी कहा जाता है । इनमें से एक कांची है, जो सब से अधिक पावन देवी-क्षेत्र माना जाता है । यहां जगज्जननी आकाश के समान अदृश्य और सूक्ष्म रूप में सर्वत्र व्याप्त हैं । कांची पहुंचने पर शंकर ने कामाक्षी मंदिर में जा कर 'बिल' (गुफा) में देवी के दर्शन किए, और उनके दयामयी रूप का आविर्भाव कराने के निमित्त उन्होंने उनकी प्रतिमा के सामने श्रीचक्र की प्रतिष्ठा कर दी । 'चिद्विलास शंकर विजय' के अनुसार, आचार्य ने स्वयं ही श्री कामाक्षी के सम्मुख श्रीचक्र बनाया । श्री कामाक्षी के मंदिर में श्रीचक्र की स्थापना और उसके महात्म्य का वर्णन आनन्दगिरि ने किया है ।

प्रमुख धार्मिक संप्रदायों के मंदिरों में जाने के अलावा शंकर ने, उपासकों की सुविधा के लिए, ईश्वर के विभिन्न स्वरूपों के गुणगान में सुंदर स्तोत्रों की रचना भी की थी । इस प्रकार के स्तोत्रों में 'शिवानन्द-लहरी', सौन्दर्य-लहरी', 'हरिस्तुति' और 'दक्षिणामूर्ति-स्तोत्र' विशेष रूप से विख्यात हुए । शंकर द्वारा रचित स्तोत्रों की संख्या दो सौ बीस बताई

जाती है । उनमें से अनेक के बारे में संदेह भी प्रकट किया गया है और कुछ लोग उन्हें शंकर-रचित नहीं मानते । पर इस संबंध में दी जाने वाली कई युक्तियां तो बिलकुल ही लचर हैं । एक युक्ति यह दी गई है कि इन स्तोत्रों में चूंकि "संसार की यातनाओं का उल्लेख है और बड़ी भावपूर्ण वाणी में वृद्धावस्था, गार्हस्थ्य जीवन के दुखों आदि का रोना गाया है, इसलिए वे शंकराचार्य की रचना नहीं हो सकती" ।[1] इसका उत्तर तो बिलकुल स्पष्ट है कि सांसारिक दुखों का अनुभव करने के लिए संसार-चक्र में पड़ना आवश्यक नहीं है । शंकर ने उन स्तोत्रों की रचना हम सांसारिक लोगों द्वारा गाए जाने के लिए की थी, और इसलिए उन्होंने उनमें हमारे ही भावों को हमारी भाषा में प्रकट किया है । यह भी नहीं कहा जा सकता कि अद्वैतवादी शंकर के लिए ईश्वर के साकार स्वरूप को संबोधित करने वाले स्तोत्रों की रचना करना युक्तिसंगत नहीं था, क्योंकि अद्वैत का दर्शन न तो अनीश्वरवाद ही है, और न नास्तिकवाद । अगले परिच्छेद में हम यह देखेंगे ही, कि ईश्वर की उपासना अद्वैत-साधना का एक महत्वपूर्ण अंग है ।

संभव है कि शंकर के नाम से प्रचलित सभी स्तोत्रों की रचना उन्होंने न की हो । फिर भी, निर्विवाद रूप से उनके द्वारा रचित माने जाने वाले स्तोत्र स्वयं इस बात के प्रमाण हैं कि शंकर ने परमात्मा के अनेक स्वरूपों की स्तुति की, ताकि उपासकों का चित्त संकीर्णता और मदांधता से ऊपर उठ कर सामंजस्य और एकत्व की भावना से अनुप्राणित हो सके ।

यह सौभाग्य की बात है कि प्रमुख भाष्यों की प्रामाणिकता के बारे में किसी ने कोई संदेह नहीं प्रकट किया है । उपनिषद, भगवद्गीता और ब्रह्मसूत्र—ये तीन वेदांत के मूल शास्त्र ग्रंथ हैं । लगभग दस उपनिषद प्रमुख माने जाते हैं, जिनमें 'बृहदारण्यक' और 'छान्दोग्य' का विस्तार सब से अधिक है । शंकर के इन दस उपनिषदों के अलावा संभवतः एक या दो और भी उपनिषदों पर भाष्य लिखे । भगवद्गीता के अपने भाष्य में उन्होंने दिखलाया है कि उपनिषदों की ही भांति, उसमें भी संग-त्याग (कर्त्ता का भाव कायम रखते हुए भी कर्म के फल के प्रति अनासक्ति) की ही नहीं, कर्म-संन्यास (कर्म के त्याग अर्थात, कर्म के साधनों के प्रति भी) अनासक्ति की शिक्षा दी गई है । अपने 'ब्रह्मसूत्र-भाष्य' में शंकर ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि बादरायण ने अद्वैत की ही शिक्षा दी है । इन भाष्यों के अतिरिक्त शंकर ने अद्वैत पर कई प्रकरण-ग्रंथ भी लिखे । इनमें से कुछ हैं : 'उपदेश-सहस्री', 'आत्मबोध', 'शत-श्लोक' और 'विवेक-चूड़ामणि' ।

बाद को उनके शिष्यों ने भी अपने गुरु की रचनाओं का आदर्श सामने रख, उनकी कृतियों पर टीकाएं लिखीं और अनेक स्वतंत्र ग्रंथ भी रचे; और इस प्रकार वे भी हमें अद्वैत की अपनी व्याख्याएं दे गए हैं ।

सुरेश्वर ने 'नैष्कर्म्य-सिद्धि' लिखी, जिसमें अद्वैत के इस केंद्रीय विचार की बड़ी ही विशद व्याख्या है कि मुक्ति का प्रत्यक्ष साधन कर्म नहीं ज्ञान है। सुरेश्वर कहते हैं—"यद्यपि औरों ने भी यह काम किया है, फिर भी अपने गुरु की ही आज्ञा को शिरोधार्य करके मैं भी इस काम में हाथ लगा रहा हूं और वेदांत में अंतर्निहित उस सिद्धांत की व्याख्या कर रहा हूं जो 'संसार' का नाश कर हमें सत्य की अनुभूति कराता है।"

'बृहदारण्यक' और 'तैत्तिरीय' उपनिषदों पर शंकर के भाषों और 'दक्षिणामूर्त्ति स्तोत्र' जैसे उनके प्रकरण-ग्रंथों पर सुरेश्वर ने अपने 'वार्त्तिक' भी लिखे। इन वार्त्तिकों की रचना के कारण ही सुरेश्वर 'वार्त्तिककार' के नाम से प्रसिद्ध हुए।

अपने गुरु के 'सूत्र-भाष्य' पर पद्मपाद की सूक्ष्म टीका के संबंध में एक रोचक जनश्रुति है। कहा जाता है कि उसे लिखने के बाद वह दक्षिण के तीर्थस्थानों की यात्रा पर निकल पड़े। कालहस्ती और चिदम्बरम जैसे 'क्षेत्रों' की तीर्थयात्रा के बाद वह श्रीरंगम पहुंचे, जहां उनके पूर्वाश्रम के चाचा रहते थे। यह चाचा 'प्रभाकर-मीमांसा' मत के कट्टर अनुयायी थे। शंकर के 'सूत्र-भाष्य' पर लिखी उनकी टीका जब उन्होंने पढ़ी तो वह प्रसन्न भी हुए और दुखी भी। प्रसन्नता जहां अपने भतीजे की विद्वत्ता देख कर हुई, वहां दुख इसलिए कि वह रचना वेदांत पर थी जिसे कोई भी मीमांसक स्वीकार नहीं कर सकता था। रामेश्वर जाते समय पद्मपाद अपनी उस टीका को सुरक्षित रखने की दृष्टि से अपने चाचा के पास ही छोड़ गए। किंतु वह अपने भतीजे की वापसी से पहले ही उसे नष्ट कर देना चाहते थे। खुल्लमखुल्ला वैसा करने का साहस तो उनमें नहीं था, इसलिए उन्होंने अपने घर में, जहां वह हस्तलिपि रखी हुई थी, स्वयं ही आग लगा दी और उसे एक दुर्घटना का रूप दे दिया। श्रीरंगम लौटने पर पद्मपाद को जब इस दुर्घटना की खबर दी गई तब वह बड़े ही दुखी हुए। वह अपने गुरु के पास लौट गए और उन्हें अपनी रचना के नष्ट होने की खबर दी। शंकर ने उन्हें सांत्वना दी और कहा कि 'सूत्र-भाष्य' की उस टीका के प्रथम पांच 'पादों' (खंडों) को तो वह अपनी स्मृति से दुहरा सकते हैं, क्योंकि उसका उतना अंश ही उन्होंने पद्मपाद से सुना था। पद्मपाद ने वह अंश, इस प्रकार, फिर से लिख डाला और अपने गुरु की इस कृपा के लिए उनका बड़ा ही आभार माना। उस टीका के पांच ही पाद इस तरह बचे रह सके, जिस कारण उसका नाम 'पंचपादिका' पड़ गया। किंतु अब तो उसमें से भी केवल प्रथम चार सूत्रों की टीका ही उपलब्ध है।

शंकर के अपने ही अन्य शिष्यों ने, और उनके बाद की इस महान गुरु-परंपरा में भी कितनों ने ही, अद्वैत-साहित्य के भंडार को समृद्ध करने में अपना योगदान किया है। 'हस्तामलक' की रचना का उल्लेख पहले ही किया जा चुका है, जिसके बारे में कहा जाता है कि स्वयं शंकर ने 'हस्तामलकीय भाष्य' नामक उसका भाष्य लिखा था। तोटक छंद में रचित तोटक के शंकर-स्तव का भी उल्लेख हो ही चुका है। इसके अतिरिक्त

तोटक ने वेदांत का एक प्रकरण-ग्रंथ भी लिखा, जिसमें 'वह तू ही है' (तत् त्वम् असि), इस महावाक्य में निहित और अपने आचार्य शंकर द्वारा प्रतिपादित रूप में, उपनिषदों का सार दिया गया है । इस रचना का नाम है 'श्रुतिसारसमुद्धरणम्' एक अन्य नाम—'वेदांतविद्या-पारतत्त्व-निवेदनम्' से भी इसकी प्रसिद्धि है ।

अद्वैत के आधार पर भारत की सांस्कृतिक एकता की रक्षा करने और आध्यात्मिकता के आदर्श को ऊंचा रखने की दृष्टि से शंकर ने मठों, पीठों, आदि की स्थापना की, जो शताब्दियों बाद भी अब तक कायम है । अद्वैतावलंबी संन्यासियों के दस भेद हैं । इनमें से प्रत्येक के बीच अंतर केवल उनके संन्यास वाले नाम के अंत में जोड़े जाने वाली एक एक उपाधि में ही है । संयुक्त रूप से इन दसों को 'दशनामी' कहते हैं । इनके ये भेद हैं—सरस्वती, पुरी, भारती, वन, अरण्य, तीर्थ, आश्रम, गिरि, पर्वत और सागर ।

देश के विभिन्न भागों में शंकर ने जिन मठों की स्थापना की उनमें उन्होंने अपने एक एक प्रमुख शिष्य को मठाधीश बना कर बिठाया, जिससे कि प्रत्येक केंद्र में अद्वैत का उपदेश देने वालों की एक अविच्छिन्न गुरु-परंपरा बनी रहे । इन अनेक मठों में से सब से अधिक महत्वपूर्ण हैं—बदरी-क्षेत्र, द्वारका-पुरी, जगन्नाथ-पुरी और शृंगगिरि (शृंगेरी) और कांची भी ।

बदरिकाश्रम और बदरीश के मंदिर के साथ शंकर के घनिष्ठ संपर्क की बात पहले ही कही जा चुकी है । भारत के चार प्रमुख स्थलों पर चार पवित्र धाम हैं; उत्तर में हिमालय पर बदरी, पश्चिम में द्वारका, पूर्व में जगन्नाथपुरी और दक्षिण में रामेश्वरम । तपस्या और ज्ञान-साधना के लिए सब से अधिक माहात्म्य बदरी-क्षेत्र का है; इसीलिए उसे 'तपोभूमि' कहा जाता है । उद्धव को अपना अंतिम उपदेश दे चुकने के बाद श्रीकृष्ण ने उन्हें बदरी जाने के लिए कहा था, और उसे अपना आश्रम बताया था (बदर्याख्य ममाश्रमम्) । बदरीनाथ के मंदिर के दोनों ओर नर और नारायण पर्वत हैं जो विष्णु के युगल अवतार के रूप में विश्व के कल्याण के लिए शाश्वत तपस्या में लीन हैं । और पीछे कुछ दूरी पर खड़ा हुआ है गौरवशाली नीलकंठ शृंग । बदरी की प्राकृतिक शोभा और आध्यात्मिक वातावरण के कारण शंकर ने अपना एक मठ वहां स्थापित किया । ठीक जिस स्थान पर यह मठ स्थापित है, वह मंदिर से 18 मील दूर दक्षिण में है । वह स्थान स्वयं भी मठ के ही नाम से प्रसिद्ध हो गया है—ज्योतिर्मठ (जोशी मठ) । बदरी का नगर दीर्घकाल-व्यापी शीत ऋतु में हर साल इसी स्थान पर आ बसता है, और उस बीच मंदिर समेत बदरी पूरी तरह बर्फ से ढका रहता है । जोशीमठ में ज्योतिर्लिंग महादेव, वासुदेव और अष्टकाली, आदि के कई मंदिर हैं शीतकाल में जोशीमठ के मंदिर में ही बदरीश की पूजा की जाती है जहां पर, कहा जाता है, शंकर ने नृसिंह शालिग्राम की प्रतिष्ठा की थी । नगर के सामने की एक पहाड़ी के शिखर

पर, मनोरम दृश्यों के बीच, ज्योतिर्मठ है। एक विशाल वृक्ष के नीचे एक गुफा है जिसमें, कहा जाता है, शंकर ने कुछ काल तक रह कर तपस्या की थी। सच पूछा जाए तो पूरा-का-पूरा उत्तराखंड ही शंकर के स्मृतिचिह्नों से भरा पड़ा है।

द्वारका या द्वारावती—चारों धामों में से एक तो है ही, साथ ही वह सात में से एक मोक्षपुरी भी है। यह वही नगर है जहां श्रीकृष्ण राज्य करते थे। प्रायद्वीपीय भारत के पश्चिमतम छोर पर यह अवस्थित है। द्वारकाधीश (श्रीकृष्ण) का मंदिर ही नगर का सबसे महत्वपूर्ण अंग है। शंकर ने द्वारका को भी एक मठ की स्थापना के लिए चुना। यहां पर स्थापित पीठ का नाम कालिका है।

इसी प्रकार, पूर्वी तट पर स्थित एक दूसरे धाम जगन्नाथ-पुरी में, शंकर ने एक और मठ स्थापित किया। इस पीठ का नाम गोवर्धन है।

शृंगगिरि (शृंगेरी) का संबंध ऋष्य शृंग मुनि के साथ है जिनके पौरोहित्य में ही राजा दशरथ ने 'पुत्रकामेष्टि यज्ञ' कर के रामचन्द्र और अन्य तीन पुत्रों को प्राप्त किया था। तुंगभद्रा और उसके आसपास के शांत वातारण के कारण यह स्थान बड़ा ही रमणीक है। शंकर ने एक मठ यहां स्थापित किया। इस मठ की स्थापना के संबंध में एक किंवदंती है। मण्डन मिश्र जब 'सुरेश्वर' के नए नाम से शंकर के शिष्य हो गए थे तब सरस्वती भी, जैसा कि हम देख चुके हैं, शंकर की मंडली में सम्मिलित हो गई थीं। पर वह इसी शर्त पर शामिल हुई थीं कि शंकर कभी पीछे फिर कर यह नहीं देखेंगे कि वह उनका अनुसरण कर रही हैं या नहीं। किंतु शंकर की मंडली जब तुंगभद्रा के तट पर पहुंची तब सरस्वती के पांव जमीन में धंस गए और वह वहीं अटकी रह गई। उनके पायलों के बजने की आवाज न सुनकर शंकर ने पीछे फिर कर देखा। वह समझ गए कि देवी शारदा ने, जिनकी अवतार यह देवी सरस्वती थीं, अपने निवास के लिए शृंगेरी को ही चुना है। इस प्रकार शारदा-पीठ की स्थापना हुई और वहां भी एक मठ बना दिया गया।

कांची के साथ शंकर के संबंध की बात पहले ही बताई जा चुकी है। आनन्दगिरि के अनुसार कांची में (जहां कहा जाता है, उन्होंने श्री कामाक्षी कामकोटि के नाम पर एक पीठ की स्थापना की),[2] शंकर के कुछ शिष्य, जो पहले दूसरे संप्रदायों में थे, अपने गुरु का आशीर्वाद प्राप्त कर, अद्वैत द्वारा निर्मलीभूत अपने अपने धार्मिक मत का प्रचार करने के लिए देश का भ्रमण करने निकल पड़े। उनमें से सभी की अद्वैत में दृढ़ आस्था थी और वे सभी परमहंस संन्यासी हो चुके थे, पर जहां तक सगुण उपासना की बात है, उनमें से सभी के अपने अपने अलग इष्ट देवता थे—विष्णु, शिव, शक्ति, आदि। ब्रह्म की अद्वैत सत्ता को स्वीकार करते हुए भी साकार परमात्मा के संबंध में उन सबकी अपनी अलग अलग आस्थाएं थीं। उन सभी ने अपनी अलग अलग आस्था के अनुसार धार्मिक प्रचार करने की अपने गुरु से अनुमति मांगी, जो उन्हें अविलंब

दे दी गई । आम लोगों के अंदर धर्मिक भावना को जगाने के उद्देश्य से जो शिष्य देशभ्रमण के लिए निकले थे उनमें से, परमतकालानल शैव थे, लक्ष्मण और हस्तामलक वेष्णव थे, दिवाकर सौर (सूर मत के अनुयायी) थे, त्रिपुरकुमार शाक्त थे, गिरिजाकुमार गाणपत्य थे, और वटुकनाथ कापालिक थे । सारे देश का भ्रमण और अद्वैतवाद के आधार पर अपने अपने मतों का प्रचार करने के बाद वे सभी फिर कांची लौट आए, और अपने गुरु के ही पास रहने लगे ।

आनन्दगिरि के अनुसार, शंकर ने अपने अंतिम दिन कांची में ही बिताए, और वहीं उन्होंने अपना चोला छोड़ा । आनन्दगिरि के 'शंकर-विजय' के अलावा, 'शिव-रहस्य', 'पातंजलि-चरित', और 'शंकराभ्युदय' के प्रामाणिक रचयिताओं ने भी यही लिखा है कि शंकर ने अपने अंतिम दिन कांची में बिताए । श्री कामाक्षी के मंदिर में, उसके परमपावन मंदिरगर्भ के बहुत निकट ही, शंकर की पूरे आकार वाली एक प्रस्तर प्रतिमा प्रतिष्ठित है । इसी मंदिर में शंकर की एक कांस्य उत्सव-मूर्ति है जो हर साल व्यास-पूजा के दिन सर्व-तीर्थ के तट पर स्थित मुक्ति-मंडप तक ले जाई जाती है और वहां उसकी पूजा की जाती है । कांची के सभी देवी-देवताओं के मंदिरों में, विविध मुद्राओं में, शंकराचार्य की प्रस्तर मूर्तियां मिलती हैं । इन प्रस्तर मूर्तियों से यही संकेत मिलता है कि शंकर के कांची-अवस्थान की उस क्षेत्र पर एक अमिट छाप पड़ी जो समय बीतने के साथ साथ और भी गहरी होती गई ।

फिर भी, कुछ विशेषज्ञों के अनुसार, अपनी जीवन-लीला समाप्त करने के पहले शंकर जिस स्थान पर (सिद्धि-क्षेत्र) रहे वह कांची से भिन्न था । (1) केदार—'माधवीय शंकर विजय' में कहा गया है कि अंतिम काल में शंकर अपने शिष्यों के साथ बदरी और केदार-क्षेत्र पहुंचे, और वहीं से कैलास को लौट गए ; (2) बदरी—'चिद्विलासीय शंकर-विजय' में बताया गया है कि शंकर अपने अंत समय में बदरिकाश्रम की दत्तात्रेय गुफा में जा घुसे थे ; (3) महुरीपुरी—शृंगेरी गुरु-परंपरा के संबंध में विवरण प्रस्तुत करने वाले 'गुरु-वंश-काव्य' के अनुसार, शंकर अपने जीवन के अंतिम काल में नेपाल स्थित सिद्धेश्वर से दत्तात्रेय आश्रम गए, अपना दंड और कमंडल वहीं छोड़ दिया जो क्रमशः एक वृक्ष और एक कुंड के रूप में परिणत हो गए, और मराठवाड़ा के महुरीपुरी में स्थित दत्तात्रेय आश्रम में रहे, जहां श्री दत्तात्रेय के साथ उनका वार्तालाप हुआ । (4) त्रिचुर—गोविन्दनाथ के 'केरलीय शंकर-विजय' के अनुसार, शंकर त्रिचुर (वृषाचल) के मंदिर के अंदर जाकर वहां से सूर्य-मंडल में जा पहुंचे ; (5) कश्मीर—किन्हीं श्रीनिवास अलय द्वारा संस्कृत पद्य में हाल ही में लिखे गए शंकर के एक जीवन–चरित के अनुसार वह अंतिम बार कश्मीर में ही दिखाई पड़े थे ।

जो भी हो, लौकिक दृष्टि से भी देखा जाए, तो उनका अंत नहीं हुआ है । वह अभी भी जीवित हैं, और मनुष्य की स्मृति में निरंतर विद्यमान हैं । चरम दृष्टि से

देखने पर तो, वह सर्वव्यापी और नित्यस्वरूप अद्वैत सत्ता ही हैं। आनन्दगिरि के शब्दों में, सर्वव्यापी चैतन्य के रूप में तो वह आज भी विद्यमान हैं ही। सभी धर्मात्मा मनुष्यों के मुक्तिदाता वस्तुतः गुरु शंकराचार्य ही तो हैं।

---

1. एस. के. बेलवलकर
2. शंकर द्वारा स्थापित मठों या पीठों के बारे में कुछ विवाद है। उनके कितने ही अनुयायी यह मानते हैं कि शंकर ने पीठों और मठों की विधिवत स्थापना केवल बदरीनाथ, द्वारका, पुरी और शृंगेरी में ही की। किंतु, कुछ अन्य अनुयायियों की मान्यता है कि उन्होंने एक मठ, और पांचवां पीठ, कांची में स्थापित किया। कुछ अनुयायियों के अनुसार वे यहीं सर्वज्ञ-पीठ पर आसीन हुए।

— संपादक

5. शंकर का दर्शन

शाश्वत सत्य का मार्ग खोज निकालने वालों में शंकर का स्थान बहुत ही ऊंचा है। उन्होंने अपना सारा ही जीवन—जो यों थोड़ा ही रहा —इस भूमंडल के अपने मानव संगियों को यही उपदेश देने में बिता दिया कि जो नश्वर है उसे छोड़ वे उसे प्राप्त करें जो चिरस्थायी है, और लौकिक जीवन की क्षणभंगुर मनोहरता के पीछे न दौड़ अमर जीवन की आध्यात्मिक सुख-शांति की ओर उन्मुख हों। राग-द्वेष की प्रवृत्तियां ही जब तक प्रेरक शक्तियां हैं, और बाह्य इंद्रिय-विषयों की ओर आकृष्ट होकर ही जब तक सारी क्रिया होती है तब तक मनुष्य के और पशु के आचरण में कोई अंतर नहीं है। किंतु मनुष्य एक प्रकार की विशिष्टता से संपन्न हुआ है जिसका संवर्द्धन किए जाने से उसमें एक उत्कर्षता आ जाएगी। इस विशिष्टता की व्याख्या शंकर ने कर्म (संकल्पपूर्वक किया गया कार्य) और ज्ञान[1] की उसकी पात्रता के रूप में की है, और इस प्रसंग में एक श्रुति-वाक्य का हवाला दिया है—"आत्मा का विस्तार केवल मनुष्य में होता है। बुद्धि की विभूति वस्तुतः उसे ही सबसे अधिक मात्रा में प्राप्त हुई है। उसे जो ज्ञान होता है उसका वह प्रकाश करता है। वह जो जानता है उसे देख लेता है। वह जानता है कि क्या आने वाला है। वह दृश्य और अदृश्य दोनों ही जगत को जानता है। वह मर्त्य के माध्यम से अमर्त्य का अनुभव करता है। उसे इतना कुछ प्राप्त है। किंतु अन्य पशुओं का ज्ञान खाने और पीने मात्र तक सीमित रह जाता है।" विवेक द्वारा सत्य को देख और पहचान सकने की इस विशिष्ट सामर्थ्य के कारण ही मनुष्य शाश्वत सत्य की खोज करता है और अंत में उसे प्राप्त करने में समर्थ होता है। शाश्वत सत्य के इसी मार्ग को शंकर ने न केवल अपनी शिक्षा द्वारा बल्कि अपने ज्वलंत उदाहरण द्वारा सिखाया।

भारतीय दर्शन के इतिहास में शंकर का स्थान स्थायी भी है और उच्च भी। यद्यपि उन्होंने मौलिकता का कोई दावा अपने लिए नहीं स्वीकार किया, फिर भी मनुष्यों के चित्त में उन्होंने एक क्रांति उत्पन्न कर दी, जिसके हितकारी परिणाम आज तक दिखाई पड़ रहे हैं। चिंतन-पद्धति और भाष्य लिखने में उन्होंने एक आदर्श स्थापित कर दिया जिसका अनुसरण करने की चेष्टा भारत के परवर्ती दार्शनिकों ने भी की है। एक महान

तत्वमीमांसक ने शंकर की लेखन-शैली का वर्णन 'प्रसन्न-गंभीर' (प्रसादगुण युक्त और गंभीरतापूर्ण) कह कर किया है। उनकी रचनाओं की विशिष्टता है मर्मभेदी अंतर्दृष्टि और विश्लेषणात्मक नैपुण्य। उन्होंने ब्रह्म का जो तत्वज्ञान दिया उसे समझ सकना कठिन अवश्य है। ब्रह्म की व्याख्या करने के किसी भी प्रकार के प्रयत्न के दुर्बोध की अभिव्यक्ति संबंधी कठिनाई का तो सामना करना ही पड़ता। किंतु व्याख्या करने की शंकर की पद्धति ऐसी है जिसमें हमें उस प्रचलित, किंतु परिहारणीय, अतिरिक्त कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ता जिसे अभिव्यक्ति की दुर्बोधता कहते हैं। उन्होंने गद्य और पद्य दोनों में ही बड़ी भव्य रचनाएं कीं, और उन सभी में जहां एक ओर चिंतन की गहराई परिलक्षित होती है वहां साथ ही भाषा की सुबोधता भी। उपनिषद्, भगवद्गीता और ब्रह्म-सूत्र—ये तीनों ही वेदांत के प्रामाणिक आधार माने जाते हैं। इनके भाष्य और 'उपदेशलहरी' तथा 'विवेक चूड़ामणि' जैसे वेदांत के प्रकरण ग्रंथ शंकर की प्रमुख रचनाएं हैं।

शंकर के दर्शन का निचोड़ निम्नलिखित शब्दों में दिया जा रहा है जो संस्कृत के एक श्लोक का अर्ध-भाग है : "ब्रह्म ही सत्य है, दृश्य जगत माया है, तथाकथित जीवात्मा ही ब्रह्म है, दूसरा कुछ नहीं।"

उपनिषदीय शब्द 'ब्रह्मन्' और 'आत्मन्' उस परम सत्य का निर्देश करते हैं जो अद्वेत है। ब्रह्म के स्वरूप की परिगणना पदार्थों की किसी कोटि में न हो सकने के कारण उपनिषदों में उसका उल्लेख 'यह नहीं, यह नहीं' (नेति नेति) के रूप में किया गया है। किंतु इसका मतलब यह नहीं है कि ब्रह्म शून्यत्व की गहन रात्रि है, अथवा सर्वाभावमय शून्य। वही संपूर्ण सत्ता है; वही अनन्य सत्य है। उपनिषदों के कुछ वाक्यों में ब्रह्म के लिए 'सत्य', 'ज्ञान', और 'आनन्द' जैसे निश्चयात्मक भाव व्यक्त करने वाले शब्दों का प्रयोग किया गया है। किंतु इन शब्दों से भी ब्रह्म संबंधी हमारी जो धारणा बनती है वह इसी रूप में, कि वह क्या नहीं है—जैसे कि, वह असत् नहीं है, जड़ नहीं है, और निरानंद नहीं है। किसी वस्तु की परिभाषा करना ही उसको सीमित कर देना, उसे सांत बना डालना है। अनंत और असीम को सांत या ससीम पदार्थों की कोटि में नहीं रखा जा सकता। ब्रह्म 'निगुण' है। यह कहना भी पूरी तरह सही नहीं है कि वह एक है, क्योंकि जो पूर्ण है उसे संख्या की सीमा में नहीं बांधा जा सकता। यही कारण है कि शंकर अपने दर्शन को 'अद्वैत' कहते हैं—दो नहीं, या द्वैत के न होने का सिद्धांत।

उपनिषदों में ऐसी उक्तियां मोजूद हैं जिनमें ब्रह्म को जगत के कारण और सभी मांगलिक गुणों के धाम के रूप में निरूपित किया गया है। इन दोनों मतों के बीच किस प्रकार सामंजस्य बिठाया जाय—इस मत में, कि ब्रह्म पूर्ण और निर्गुण है, और उस मत में, जिसके अनुसार वह जगत का आधार है ? इस समस्या के समाधान के

लिए शंकर ने दो दृष्टिकोणों से काम लिया है : पारमार्थिक और व्यावहारिक। पारमार्थिक सत्य यह है कि ब्रह्म अद्वैत और संग रहित है। एकमात्र वही है; उसके अतिरिक्त और कुछ भी सत्य नहीं। किंतु हमारे दृष्टिकोण से, जो लौकिक, सापेक्ष दृष्टिकोण है, ब्रह्म ईश्वर के रूप में दिखलाई देता है, जो जगत का कारण है। कारणत्व वस्तुतः है ही नहीं। ब्रह्म में ही भ्रमवश संसार भासने लगता है, जिस प्रकार रज्जु में सर्प भासने लगता है। यह मत 'विवर्त्त-वाद' के नाम से प्रसिद्ध है (दृश्य जगत के माया होने का मत), जिससे उलटा, और इसका विरोधी मत है, 'परिणाम-वाद'।

परम सत्य स्वरूप ब्रह्म, जो निर्विशिष्ट, निरुपाधि और निर्गुण है, जब लौकिक जगत और लौकिक जीवों के संपर्क में दिखाई देता है तब वही ईश्वर कहलाता है। ब्रह्म दोनों में वही है—निर्गुण या सगुण। दो ब्रह्म नहीं हैं, जैसा कि कुछ छिद्रान्वेषियों ने कटाक्ष किया है। यहां तक कि जब ईश्वर को अपर (निम्नस्तर) बताया गया है तब भी आशय यह नहीं है कि ईश्वर का पद निम्न हो गया है, बल्कि यह, कि अनुभूति के निम्नस्तर लौकिक-स्तर से देखे जाने पर ब्रह्म ही ईश्वर जान पड़ता है। ये दो पृथक ब्रह्म नहीं हैं; उसके दो रूप (द्विरूप) है : स्वरूप-स्थित ब्रह्म और लोकरूप ब्रह्म। इनमें से पहला निरुपाधि ब्रह्म है; दूसरा नाम, रूप और विकार की उपाधियोंवाला।

इस प्रकार, ईश्वर सगुण ब्रह्म है, जिसका कारण माया है। चूंकि माया की ब्रह्म के साथ या उससे अलग कोई सत्ता नहीं है, इसलिए यह यथार्थ नहीं है। ईश्वरत्व के लिए, कल्पित द्वैत-भाव मात्र की आवश्यकता पड़ती है, वास्तविक द्वैत-भाव की नहीं। घटाकाश की तुलना में आकाश को पूर्णाकाश कहा जाता है, किंतु स्वतः उसमें, और उसके अपने लिए, इससे कोई अंतर नहीं पड़ता। ठीक इसी प्रकार, सीमित ज्ञान, सीमित शक्ति, आदि से युक्त जीव की तुलना में ईश्वर भी सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान आदि माना जाता है। स्वतः तो ईश्वर-तत्व-भेद रहित है और उसे रूप आदि की किसी कोटि में नहीं रखा जा सकता। हां, यह स्वीकार करना ही होगा कि प्रतिबिंबवाद की एक व्याख्या के अनुसार, ईश्वर का वर्णन माया में ही ब्रह्म के प्रतिबिंब के रूप में किया गया है। पर यहां यह स्मरण रखना चाहिए कि, इस मत के अनुसार, प्रतिबिंब और बिंब में कोई अंतर नहीं है। प्रतिबिंबवाद की दूसरी व्याख्या में, जो अधिक प्रचलित और स्वीकृत है, ईश्वर की तुलना बिंब के साथ की जाती है, और केवल जीवों की तुलना दर्पणों में, प्रतिबिंबित होने वाली मुखाकृति के साथ होती है। जो भी हो, अद्वैत में, ईश्वर व्यक्ति के चित्त की कल्पना-प्रसूत सत्ता या मानसिक रचना मात्र नहीं है। ईश्वर की भावना को एक असंबद्ध अभिधारणा अथवा एक असंभव और असंगत विचार कह कर उड़ा नहीं दिया जा सकता। ईश्वर की धारणा अद्वैत को न तो कोई क्षति ही पहुंचाती है और न उसकी स्थिति को संदिग्ध बनाने वाली है। उलटे, उसकी धारणा अद्वैत-अनुभूति के लिए सर्वथा संगत और मूल्यवान है।

जीव और ईश्वर यदि एक ही हैं, तो यह प्रश्न उठ सकता है, कि फिर अद्वैत में ईश्वर का स्थान कहां है ? इसका उत्तर सीधा-सादा है । 'वही तू है,' 'मैं ही ब्रह्म हूं' आदि तादात्म्य संबंधी उक्तियों तक में जो शिक्षा दी गई है वह यह नहीं है कि ईश्वर के साथ जीव की एकरूपता है । दोनों उक्तियों में आए इन दो शब्दों, 'जीव' और 'ईश्वर', के मुख्य अर्थों के बीच किसी समानता का न रह सकना ही यथार्थ में वह कारण था जिससे उनके गौण अर्थों को लेने की आवश्यकता आ पड़ी । इन उक्तियों द्वारा यह शिक्षा नहीं दी गई है कि जीव और ईश्वर एक ही हैं, बल्कि यह कि दोनों शब्दों का गौण अर्थ एक ही है, अर्थात, निर्गुण आत्मा । अद्वैत हमें यही बताता है कि आत्मा ही ब्रह्म है, यह नहीं कि जीव ही ईश्वर है । माण्डूक्य उपनिषद् में सुषुप्ति अवस्था की आत्म-स्थिति के संदर्भ में कहा गया है—"यही सर्वेश्वर है, यही सवर्ज्ञ है, यही सर्वनियंता है । यही सबका मूल कारण है, वस्तुतः प्राणिमात्र का आरंभ और अंत ।" इस उक्ति का तात्पर्य यह नहीं है कि लौकिक जीव और ईश्वर एक ही हैं; इस उक्ति को तो प्रज्ञा की प्रशस्ति के रूप में ही लेना चाहिए, जो सुषुप्ति अवस्था (घोरनिद्रा) वाली उस आत्मा का नाम है जो द्वैतभाव से सर्वथा रहित है । इस उक्ति को आत्मा के जीव-रूप और ब्रह्मांड-रूप दोनों के अन्योन्याश्रय संबंध का निर्देश करने वाला भी समझा जा सकता है । ईश्वर-ध्यान के कुछ प्रकार ऐसे भी हैं जिनमें ध्यान करने वाले भक्त को अपने इष्टदेव के साथ अपनी एकरूपता स्थापित करने के लिए कहा जाता है; ध्यान की चरम स्थिति वह है जिसमें 'मैं ब्रह्म हूं' की अवस्था प्राप्त होती है । किंतु यहां भी एकरूपता की भावना या अध्यारोपण मात्र आवश्यक है, यथार्थ एकरूपता नहीं । जीवात्मा और ईश्वर की चर्चा के समय, अथवा उनके प्रसंग में, इन दोनों के बीच के अंतर पर दृष्टि रखनी होगी । अद्वैत इस अंतर को मिटा नहीं देना चाहता । ईश्वर की यदि समुद्र से तुलना की जाय और जीव की तरंग से, तब यह कहना सही होगा कि जीव ईश्वर का अंश है, यह नहीं कि ईश्वर ही जीव का अंश है—ठीक जिस प्रकार यह कहना सही होगा कि तरंग सागर की है, यह नहीं कि सागर तरंग का है । कहा गया है कि भक्ति के लिए कल्पित द्वैत तो अद्वैत से भी अधिक सुंदर है (भक्तयार्थं कल्पितं द्वैतं अद्वैताद् अपि सुंदरम्) ।

अद्वैत में ईश्वर का क्या स्थान है, यह बात तत्व-मीमांसा और मूल्य-मीमांसा दोनों के ही दृष्टिकोणों से समझी जा सकती है । ईश्वर को सृष्टि का मूल भी माना जा सकता है और ध्यान का केंद्रस्वरूप लक्ष्य भी । ईश्वर ही जगत की मूल सत्ता है, तथा जीव का परम (वास्तविक) रूप ।

ईश्वर जगत की उत्पत्ति के कारणों में से एक कारण नहीं है; वही उसका संपूर्ण और अनन्य कारण है । ईश्वर जगत का उपादान कारण भी है और निमित्त कारण भी । कारण और काल के प्रत्यय (भावना) की परस्पर संबद्धता के कारण, संभवतः

अधिक अच्छा यह होगा कि ईश्वर को सभी वस्तुओं के मूल रूप में देखा जाए। ईश्वर अथवा ब्रह्म वह है जिससे प्राणियों की उत्पत्ति होती है, जिसमें उत्पत्ति के बाद उनकी स्थिति रहती है, और जिसमें ही अंत में वे विलीन हो जाते हैं। नाम-रूप भेदयुक्त इस सृष्टि में अनेक कर्त्ता व भोक्ता हैं; इससे देश, काल, कारण व फल पूर्व-निश्चित हैं, तथा इसकी रचना का प्रकार अचिन्त्य हे। चरम रूप से उत्कृष्ट व्यवस्था और वैचित्र्य वाली इस सृष्टि के कारणभूत और आधारभूत रूप में सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान ईश्वर से भिन्न और किसी भी प्रकार की अभिधारणा नहीं की जा सकती। किंतु इसके, और इसी प्रकार के दूसरे तर्कों को, ईश्वर के अस्तित्व के प्रमाणरूप में कदापि नही मानना चाहिए। ईश्वर निगमन तर्कों द्वारा प्राप्त कोई फल या परिणति नही है। इन तर्कों का महत्व तो इतना ही है कि अंतःप्रज्ञा द्वारा जिसका साक्षात्कार किया गया है और श्रुतियों में जिसे सत्य घोषित किया गया है उसे बुद्धिगम्य बनाने में सहायता मिले।

ईश्वर न केवल जगत का मूल है, बल्कि वह नैतिक नियामक भी है। धार्मिक अथवा नैतिक क्षेत्र में कर्म का जो विधान काम करता है, उसका विधायक ईश्वर ही है। जीवों को यदि अपने कर्मों के फल भोगने पड़ते हैं—अच्छे कर्मों के लिए अच्छे फल, और बुरे कर्मों के लिए बुरे—तो इसका कारण यह है कि कर्म के विधान के रूप में ईश्वर का ही विधान चल रहा है। मीमांसकों के इस तर्क के उत्तर में, कि कर्म का विधान स्वतः-चालित है, वेदांत का कहना है कि कर्म का विधान जड़ है और इसलिए उसके संचालन के लिए एक बुद्धियुक्त संचालक की आवश्यकता है ही। सीमित बुद्धिवाली कोई सत्ता कर्म के विधान का संचालन करने में समर्थ नहीं हो सकती। कर्म के विधान से पीड़ित तो वस्तुतः कर्ता-रूप में जीव ही होते हैं, हालांकि इस कथन से यह तात्पर्य नही निकाला जाना चाहिए कि जीव भाग्य के हाथ के खिलौने भर हैं। प्रत्येक जीव को अपने किए हुए कर्मों का फल तो मिलना ही चाहिए। कर्म-विधान का आधार न्याय का सिद्धांत है जो कर्मों के अनुरूप ही पुरस्कार या दंड देने वाला है। और इस न्याय का विधाता, अंतःस्थित और अविनाशी नियामक, ईश्वर है। वही न्याय का विधायक है और वही उसका विधान। जीवों के अंदर ही वह रहता है और उनका नियमन करता है। उसकी नियामक-शक्ति का चरम लक्ष्य है जीवों की मुक्ति। जिस जगत का उसने अपने ही अंदर से बाहर विक्षेप किया है वही जीवों की रचना-भूमि है।

मनुष्य दो बातें चाहता है—अभ्युदय और निःश्रेयस। अभ्युदय, चाहे इस लोक में हो या परलोक में, सांसारिक कोटि का साध्य है; निःश्रेयस (परम कल्याण) की कामना, जो सांसारिक बंधन से मुक्ति के लिए है, नित्य है। इन दोनों ही साध्यों की प्राप्ति के लिए ईश्वर की कृपा की आकांक्षा आवश्यक है। भगवद्गीता में भक्तों की चार

कोटियां बताई गई हैं—आर्त्त (दुखी), अर्थार्थी (जो भौतिक संपत्ति चाहते हैं), जिज्ञासु (जो तत्वज्ञान के अन्वेषक हैं), और ज्ञानी (आत्मज्ञानी) । इनमें से प्रथम दो सांसारिक अभ्युदय को ही अपना साध्य मानने वाले हैं । यह ठीक है कि दुख का अंत करने और संपत्ति-संचय करने के प्रयत्न ईश्वर की ओर निहारे बिना भी किए जा सकते हैं । पर अगर इन सीमित ध्येयों की प्राप्ति के लिए भी कोई ईश्वर की शरण जाता है तो इनमें मिलने वाली सफलताएं भी स्वयं ही उसे और भी ऊंचे उस मार्ग की ओर ले जाएंगी जिसका लक्ष्य आत्मज्ञान है । और ईश्वर की कृपा से जो ज्ञान प्राप्त होता है उसी के बल पर मनुष्य मुक्ति पाता है (शंकर : सूत्र-भाष्य 2-3-41; तदनुग्रहहेतुकेनेव विज्ञानेन मोक्षसिद्धिः भवितुम् अर्हति) ।

भक्त ईश्वर की उपासना उसके विविध रूपों में और विभिन्न नामों से करता है । यह वही ईश्वर है जो अपनी माया-शक्ति से अनेक प्रकार के रूप और नाम ग्रहण करता है । वह भक्त की ही पसंद का रूप धारण कर लेता है और जिस नाम से उसका स्मरण किया जाता है उसे ही अपना मान उसकी पुकार सुन लेता है । जब जब धर्म पर संकट आता है, संसार के हित के लिए उसकी रक्षा करने के निमित्त ईश्वर अवतार ग्रहण करता है । जन्म न लेते हुए और शरीर रहित होते हुए भी वह जन्मा हुआ और सदेह जैसा प्रतीत होता है । अधिक-से-अधिक मूर्त्तरूप में भक्त पर अपनी कृपावृष्टि करने के उद्देश्य से वह अपने लिए बनाई गई मूर्तियों को ईश्वरत्व से अनुप्राणित कर देता है । उपासना का सर्वोत्कृष्ट रूप अवश्य यही है कि ईश्वर को सर्वत्र देखा जाए और उसे अपना सर्वस्व समझा जाए । पर अधिकांश लोगों के लिए, अपनी सीमाओं में बंधे रहने और अविकसित अवस्था में होने के कारण, ऐसा करना यदि सर्वथा असंभव नहीं तो कठिन जरूर ही होता है । उनकी खातिर ईश्वर सीमाबद्ध रूपों और विशिष्ट नामों को ग्रहण करता है । उपासना की अधिक-से-अधिक अपरिष्कृत और संकीर्ण विधि से शुरू करके भक्त को अधिक भव्य ओर व्यापक विधियों की ओर बढ़ते रहना चाहिए । इन विधियों अथवा श्रेणियों को निम्नलिखित श्लोक में निर्दिष्ट किया गया है :

प्रथमा प्रतिमा पूजा जपस्तोत्राणि मध्यमा,
उत्तमा मानसी पूजा, सोऽहं पूजोत्तमोत्तमा ।

'पहली श्रेणी प्रतिमा-पूजन की है; दूसरी जप-स्तोत्र की; मानस पूजा उससे भी उत्तम है; और सर्वोत्तम है 'सोऽहं' (मैं वही हूं) की पूजा ।' 'सोऽहं' वाली पूजा (ध्यान) से यदि इसी जीवन में ज्ञानोदय नहीं हो जाता तो वह भक्त को 'क्रम-मुक्ति' (क्रम से होने वाली मुक्ति) की ओर ले जाती है । मान्यता यह है कि अपने इस शरीर को छोड़ने पर उस भक्त का सृष्टि के रचयिता ब्रह्मा के साथ तादात्म्य स्थापित हो जाता है और वर्तमान कल्प के अंत में ब्रह्मा के साथ साथ उसकी भी मुक्ति हो जाती है ।

यह ठीक है कि अद्वैत की भावना ईश्वरवाद से परे चली जाती है, पर नास्तिकवाद या निरीश्वरवाद से उसका कोई नाता नहीं है। परम सत्ता सर्वथा निरुपाधि है, वह अव्यक्त (व्यक्ति-भेदहीन) है। किंतु सृष्टि के मूल और मनुष्य के आराध्य के रूप में वह पुरुष-सत्ता जैसी दिखाई पड़ती है। यह नहीं कि ब्रह्म की ईश्वर के रूप में पदच्युति हुई है, बल्कि पूर्णानुभूति हो जाने पर ईश्वर का ही ब्रह्म के रूप में अनुभव होता है। ईश्वर के ही रूप में ब्रह्म सृष्टि का केंदबिंदु और जीव के लिए पूर्णता का प्रतिमान बनता है। जिस मूल-तत्व के कारण ईश्वर से दृश्य-जगत के प्रपंच की सृष्टि होती है उसका नाम माया है। माया का महत्व लौकिक दृष्टि से ही हे, पारमार्थिक दृष्टि से नहीं। परम सत्य यही है कि माया है वह जो (या) नहीं हे (मा)। किंतु हमारी दृष्टि से, माया ईश्वर की एक ऐसी गूढ़ शक्ति जान पड़ती है जो सत्य पर आवरण डाल कर मिथ्या का विक्षेप (प्रक्षेप) करती है। उसकी ढकने वाली शक्ति को 'आवरण' कहते है और प्रक्षेपक-शक्ति को 'विक्षेप'। यदि कोई पूछे, कि माया सत्य है या नहीं ? तो एकमात्र उत्तर यही होगा : यह न सत्य है, न मिथ्या। जगत अनेकत्वमय दिखाई देता है, अतः माया मिथ्या नहीं हे; किंतु अद्वैत आत्मा के ज्ञान से माया का विलय हो जाता है, इसलिए वह मिथ्या है भी। पर सत्य और मिथ्या दोनों तो वह हो नही सकती। इसलिए वह अनिर्वचनीय है। माया के संबंध में विचार करने का उद्देश्य यह नहीं है कि उसके संबंध में हम अधिक स्पष्ट धारणा बना सकें, बल्कि इतना भर कि हम उससे परे जा सकें। जब हम उससे परे जा पाते हैं तब कोई समस्या रह ही नहीं जाती।

माया के परे जाने का यत्न कौन करता हे ? जीव। तत्वतः जीव भी ब्रह्म ही हे। अविद्या के कारण, जो कि माया का ही व्यक्तिपरक रूप है, वह किसी देह को ही अपनी सत्ता मान संसार के चक्र में पड़ कर भटकता रहता है। अन्नमय, प्राणमय और मनोमय कोशों के जो आवरण जीव पर चढ़े रहते हैं, माया के द्वारा ही प्रसूत होते हैं। फलस्वरूप, उन्हें ही भूल से आत्मा मान लिया जाता है; अविनाशी आत्मा पर उन्हीं के धर्मों का आरोप हो जाता है। इन्हीं के, और जगत की रचना करने वाली अन्य वस्तुओं के परिणामस्वरूप, एकमात्र सत्ता के रूप में जो परमात्मा है वही सांत और अनेक जैसा दिखाई देने लगता हे; उसी की जन्म-मृत्यु होती जान पड़ती है; और वही कर्त्ता और भोक्ता बना प्रतीत होता है। इन सभी प्रकार की प्रतीतियों का कारण अज्ञान है। हम भ्रमवश यह मान बेठते हैं कि आत्मा का ही इस संसार में आवागमन होता है, और जिस जगत में ऐसा होता है वह यथार्थ है। इस रोग का एकमात्र उपचार सच्चा ज्ञान ही है। वस्तुतः आत्मा का न उदय होता है न अस्त, वही एक आत्म-दीप्ति नित्य-चेतन सत्ता है। जिन मिथ्या उपाधियों के कारण आत्मा को अनुभव की संज्ञा दी जाती है, उनके हटा दिए जाने पर (सत्य ज्ञान-द्वारा) आत्मा का उसके सच्चे स्वरूप में, अर्थात आत्मा के रूप में बोध हो जाता है।[2] अद्वैत और

नित्य स्वरूप आत्मा ही अनेकत्वमय सृष्टि का, जो कि माया का ही एक रूप है, मूल है। माया पर सूक्ष्म विचार (परिचिंतन) करने से ही भ्रम का नाश और आत्मा का अनुभव होता है। आत्मानुभूति ही मोक्ष है।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि अद्वैत के अनुसार जीव की उत्पत्ति नहीं होती, केवल देह और चित्त युक्त उसकी लौकिक सत्ता की उत्पत्ति होती है। देह-चित्त समष्टि और उसका कारण-रूप अविद्या ही जीव का संसार (जन्म-मरण के चक्रवाला) है अविद्या ही जीव का कारण-शरीर है। कारण-शरीर को आनंदमय कोश भी कहते हैं। सूक्ष्म शरीर की रचना तीन कोशों से हुई है : विज्ञानमय कोश, मनोमय कोश, और प्राणमय कोश। स्थूल शरीर अन्नमय कोश है। मृत्यु के समय केवल स्थूल शरीर बदल जाता है। भगवद्गीता में इसकी तुलना वस्त्रों के परिवर्तन से की गई है। जिस प्रकार कोई मनुष्य अपने पुराने वस्त्रों को छोड़ देता है और नए वस्त्र पहन लेता है उसी प्रकार जीव पुराने शरीर को छोड़ एक नया शरीर धारण कर लेता है। किंतु सूक्ष्म शरीर फिर भी, आनुषंगिक हेर-फेर के साथ, तब तक कायम रहता है—और साथ ही साथ कारण-शरीर भी—जब तक कि मोक्ष नहीं प्राप्त होता।

मनुष्य के अनुभव की तीन भिन्न भिन्न अवस्थाएं हैं : जाग्रत, स्वप्न, और सुषुप्ति (गहरी निद्रा)। जाग्रत अवस्था में मनुष्य बाह्य पदार्थ-जगत का अनुभव करता है। स्वप्नावस्था में वह एक कल्पित अंतर्जगत की सृष्टि करता है और मान लेता है कि वह उसी का निवासी है। सुषुप्ति की अवस्था में अनेकत्व का बोध लुप्त हो जाता है और किसी भी वस्तु की अभिज्ञा (बोध) के बिना ही अभिज्ञा रहती है। इन तीनों अवस्थाओं में जाग्रत अवस्था इस दृष्टि से अद्वितीय है कि केवल इसी स्थिति में मनुष्य यह जान सकता है कि वह अविद्या से बंधा हुआ है, और मोक्ष के लिए प्रयत्न करके अंत में उसे प्राप्त भी कर सकता है। मनुष्य-जन्म की महिमा पर हम पहले ही प्रकाश डाल चुके हैं। ठीक उसी प्रकार जाग्रत अवस्था की भी महत्ता स्वीकार की गई है। ज्ञान-दीप को प्रज्जवलित करने के लिए आवश्यक सच्ची आध्यात्मिक जिज्ञासा इसी अवस्था में संभव है। किंतु यह जिज्ञासा जाग्रत अवस्था के विषयों तक ही सीमित नहीं रखी जानी चाहिए, क्योंकि जाग्रत अवस्था तो अनुभव का एक खंड मात्र है और जिज्ञासा का लाभ तभी मिल सकता है जब संपूर्ण अनुभव उसका विषय हो। यही कारण है कि अद्वैत वेदांत की दृष्टि से इन तीनों ही अवस्थाओं के अनुभवों का विचार परम महत्वपूर्ण हो उठता है। इस जिज्ञासा के परिणामस्वरूप यह अनुभव होता है कि आत्मा शुद्ध-चित्त स्वरूप है जो देह, चित्त और संसार जैसी परिवर्तनमय उपाधियों से प्रभावित नहीं होती। माण्डूक्योपनिषद और गौड़पाद की कारिका के शब्दों में, विशुद्ध आत्मा चतुर्थ, या तुरीय अवस्था, अर्थात अतीन्द्रिय सत्ता है। जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति की अवस्थाओं में इसकी जो प्रतीति मिलती है उसके अतिरिक्त, अथवा उससे भिन्न, यह चतुर्थ अवस्था नहीं

है । यह तो व्यष्टि और समष्टि रूप जगत की प्रतीति की मूल सत्ता ही है ।

अद्वैत के सत्य का प्रतिपादन करने या बुद्धि द्वारा उसे समझने में अधिक समय नहीं लगता । पर साधारण मनुष्य उसके सत्य का अनुभव तभी कर पाता है जब उसने उसके लिए दीर्घकाल तक साधना की हो और विधिवत उसकी शिक्षा प्राप्त की हो ।

मनुष्य का सर्वोपरि लक्ष्य है आवागमन के संसार-चक्र से मुक्ति पाना । यह ठीक है कि सभी मनुष्य विचारपूर्वक न यह समझते हैं और न इसके लिए प्रयत्न करते हैं । उसके स्थान पर धन और सुख जैसे ससीम साध्यों की प्राप्ति के लिए ही प्रयत्न किए जाते हैं, जिसके फलस्वरूप दुख बढ़ता ही जाता है । किंतु इनके लिए भी यदि धर्म के नियमों की सीमाओं के अंदर रहते हुए प्रयत्न किया जाए तो भी मनुष्य के आध्यात्मिक-मार्ग की यात्रा शुरू होने में मदद मिल जाए । इस पथ के पथिक की सच्ची प्रगति तभी शुरू होती है जब इस सत्य का बोध हो जाता है कि मनुष्य के लिए एकमात्र साध्य तो अनंत और असीम ब्रह्म ही है ।

अद्वैत के अनुसार, मोक्ष का प्रत्यक्ष साधन ज्ञान-योग है । ज्ञान को अद्वैत में मोक्ष का प्रत्यक्ष साधन इसलिए बताया गया है कि मोक्ष कोई ऐसी वस्तु नहीं है जिसे नए ढंग से प्राप्त किया जाए । मोक्ष आत्मा का नित्य स्वरूप है । वह स्वयं आत्मा है, उसका सच्चा रूप, और इस प्रकार वह नित्य और अनारंभ (जिसका आरंभ नहीं हुआ है,) है । शंकर ने मोक्ष को नित्योपलब्धि स्वरूप माना है, अतः उन्होंने कर्मकांडियों के विपरीत, यह प्रतिपादन किया है कि कर्म उसका साधन नहीं है । क्रिया के परिणामस्वरूप होने वाले किसी भी कर्म का विनाश अवश्यम्भावी है । क्रिया द्वारा चार में से एक फल की प्राप्ति हो सकती है : उत्पत्ति, आप्ति, संस्कार और विकार । मोक्ष इन सभी से भिन्न है । मोक्ष-स्वरूप आत्मा वह नहीं है जिसकी उत्पत्ति होती है, जिसे प्राप्त किया जाता है, जिसका संस्कार होता है या जो विकार को प्राप्त होती है । आत्मा के यथार्थ स्वरूप के बोध में जो बाधा डालती है वही अविद्या है । अविद्या का निराकरण ही करणीय है । और अविद्या ज्ञान द्वारा ही दूर की जा सकती है । ज्ञान और कर्म के बीच जो विरोध है वह शंकर के अनुसार पर्वत की तरह अटल है । ब्रह्म-स्वरूप आत्मा का दर्शन उसी को होता है जो कर्म और फल के प्रति-आसक्ति न रखते हुए ज्ञान-मार्ग का अनुसरण करता है । श्रवण, मनन और निदिध्यासन ही इस मार्ग के अंग हैं । जो बात विशेष रूप से ध्यान में रखने की है वह यह कि इस प्रक्रिया द्वारा जिस ज्ञान की प्राप्ति लक्ष्य है वह केवल बौद्धिक ज्ञान नहीं बल्कि अंतःप्रज्ञा प्रसूत प्रत्यक्ष अनुभव है ।

ज्ञान-मार्ग पर चलने की सामर्थ्य तभी प्राप्त होती है जब फल की आसक्ति के बिना कर्म किया जाता है (कर्म-योग) ; अपने इष्टदेव की नित्य और अनन्य उपासना की जाती है (भक्ति-योग) ; और एकाग्र चित्त से ध्यान किया जाता है (ध्यान-योग) ।

ज्ञान-मार्ग की पात्रता प्राप्त करने के लिए जो गुण आवश्यक हैं उन्हें उत्पन्न करने की दृष्टि से ही यह विधान रचा गया है। ब्रह्म-सूत्र के प्रथम सूत्र का प्रारंभ करने वाले 'अथ' (तो) शब्द का स्पष्टीकरण करते हुए शंकर ने पात्रता संबंधी जिन गुणों की चर्चा की है, वे हैं : नित्य-अनित्य वस्तुओं के बीच विवेक, इहलोक और परलोक में भोगे जाने वाले नाशवान विषयों के प्रति वैराग्य, शम और धृति जैसे सद्गुणों की संपन्नता, और मुमुक्षा (मोक्ष की इच्छा)। वेदांत पर विचार आरंभ करने के लिए इनमें से पहला गुण प्रारंभिक है। इस प्रारंभिक अवस्था में विवेक का तात्पर्य चरम ज्ञान नहीं है। इसका अभिप्राय केवल एक ऐसे तात्विक दृष्टिकोण से है जिसमें वस्तुओं का प्रथम रूप भ्रमित नहीं कर देता। दृष्टि का नाश तो स्वार्थपूर्ण भोगवृत्ति के प्रति संकीर्ण आसक्ति से होता है। ये भोगवृत्तियां इस लोक के विषयों के लिए भी हो सकती हैं और स्वर्ग आदि के विषयों के प्रति भी। चित्त उनकी कामना कर व्याकुल हो उठता है, और इस प्रकार उसमें सत्य को देखने की क्षमता नहीं रह जाती। जब वह राग-द्वेष जैसे मनोविकारों के जाल में फंस जाता है तब वह लौकिक सत्य तक को नहीं समझ सकता; और इसलिए, शंकर कहते हैं, यह बताने की तो आवश्यकता ही नहीं कि प्रत्यगात्मा विषयक सत्य की अनुभूति चित्त की संपूर्ण शुद्धि के बिना असंभव है।

मनोविकारों से मुक्ति पाकर चित्त के शुद्ध हो जाने पर मुख्यतः धर्माचरण के द्वारा उसमें दृढ़ता लानी चाहिए। दुर्गुणों का स्थान सद्गुणों को लेना चाहिए। दोष-रहित चित्त को उत्कृष्ट गुणों की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना चाहिए। ऐसा होने पर ही चित्त के अंदर मोक्ष की वासना दृढ़ता ग्रहण करेगी। यह वासना किसी अन्य प्रकार की वासना से सर्वथा भिन्न है। इस बात की विशद व्याख्या करते हुए शंकर के शिष्य सुरेश्वर का कहना है कि परम सुख अर्थात मोक्ष की प्राप्ति की वासना राग नहीं है; यदि यह राग है तब तो एकांत आदि की कामना पर भी यही बात लागू होनी चाहिए जबकि वस्तुतः ऐसा है नहीं।

कर्म-योग, भक्ति-योग और ध्यान-योग के द्वारा जब ज्ञान के मार्ग की सारी बाधाएं दूर कर दी जाती हैं, और आत्म-जिज्ञासा के मार्ग पर चलने में सफलता प्राप्त होती है तब अद्वैत आत्मतत्त्व के ज्ञान का उसी प्रकार उदय होता है जिस प्रकार रात के बीतने पर सूर्य का। सूर्योदय की यह तुलना विशेष रूप से उपयुक्त है, क्योंकि यथार्थ में तो सूर्य का उदय होता नहीं, बल्कि सूर्य के दिखाई देने में जो बाधा रहती है वही दूर हो जाती है। ठीक इसी भांति जिस क्षण ज्ञान द्वारा अज्ञान का नाश होता है उसी क्षण आत्मा स्वतः प्रकाशित हो उठती है। इसी को मोक्ष कहा जाता है। जिस क्षण अज्ञान का नाश होता है, उसी क्षण ज्ञान के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है।

मोक्ष ही चूंकि आत्मा का नित्य-स्वरूप है, इसलिए यह आवश्यक नहीं है कि भौतिक

शरीर की मृत्यु तक उसकी प्रतीक्षा करनी पड़े । शरीर में अवस्थिति रहते हुए भी, ज्ञान की प्राप्ति होते ही, मोक्ष मिल जाता है । इस तरह का मोक्ष पाने वाले को जीवन्मुक्त कहा जाता है । उसकी दृष्टि से तो शरीर है ही नहीं । किसी शरीर में अवस्थित तो वह उन्हें ही दिखाई देता है जिन्हें मोक्ष नहीं प्राप्त हुआ है । कुछ समय बाद जब शरीर की मृत्यु हो जाती है तब हम कहते हैं–'वह विदेह-मुक्त हुआ' । किंतु यथार्थता यह है कि मुक्ति अभिन्न है । मोक्ष प्राप्त हो जाने पर जीव को पुनर्जन्म की यातना से छुटकारा मिल जाता है । ब्रह्म के साथ उसकी अभेदता स्थापित हो जाती है, जिसे अद्वैत-अनुभव कहा जाता है । उपनिषद् में कहा गया है कि 'जब हृदय से सारी वासनाएं निकल जाती हैं तब मर्त्य अमर हो जाता है, और इसी लोक में ब्रह्मत्व को प्राप्त होता है ।'

मोक्ष-प्राप्ति के लिए मनुष्य के प्रयत्न को स्वार्थपूर्ण तो कदापि नहीं कहा जा सकता । अद्वैत वेदांत के अनुसार, मोक्ष का अर्थ है देह-बोध से और अहंकार की संकीर्णता से मुक्ति पाना । वही मनुष्य, सच्चे अर्थ में, लोक-कल्याण कर सकता है जिसने पूर्णत्व प्राप्त कर लिया हो । स्वार्थपरता के लिए न तो वेदांत-साधना में ही कोई स्थान है और न उस परम ध्येय की प्राप्ति में ही, जिसकी वेदांत में परिकल्पना की गई है । वेदांत के मार्ग पर चलने वाले साधक को इस परम नियम का तो पालन करना ही होगा । आत्मज्ञानी अपने क्षुद्र 'अहम्' में नहीं बंधा रह सकता । उसका अस्तित्व मात्र संसार के लिए एक भारी वरदान है ।

शंकर को ही इस बात का श्रेय प्राप्त है कि उन्होंने अद्वैत के दर्शन को दृढ़ता प्रदान की और असंदिग्ध रूप में यह सिद्ध कर दिया कि निराश होने का कोई कारण नहीं है, और न किसी प्रकार की शंका के लिए ही कोई आधार है । अद्वैत में जिस अनन्य सत्य की शिक्षा दी गई है उसका निराकरण कभी किया ही नहीं जा सकता, क्योंकि वही तो स्वयं निराकरण करने वाले का 'स्व' है । 'उपदेशसहस्री' में शंकर कहते हैं : 'आत्मा कोई विषय-सत्ता नहीं है । उसमें न कोई परिवर्तन होता है, और न ही उसमें अनेकत्व की गुंजाइश है ।' उसे न स्वीकार किया जा सकता है, न अस्वीकार—न स्वयं द्वारा, और न किसी अन्य के ही द्वारा । जो यह जानता है कि वह स्वयं ही आत्मा है, जो अंदर भी है और बाहर भी, जो जन्म और मृत्यु तथा क्षय और ज़रा से परे है—उसे रंच मात्र भी भय क्यों होना चाहिए ? भय का कारण है अनेकता का भ्रांतिपूर्ण बोध । अद्वैत ब्रह्म की अनुभूति हो जाने पर अभय की अवस्था प्राप्त हो जाती है । अद्वैत और अभय तो एक ही और एक प्रकार के ही अनुभव के दो पृथक नाम मात्र हैं । इस अनुभव से किसी को भी वंचित नहीं किया जाना चाहिए, क्योंकि यह तो, समान रूप से, सभी का जन्म-सिद्ध अधिकार है । धार्मिक अनुष्ठानों जैसी अन्य साधनाओं और अभ्यासों की दृष्टि से भले ही भेदभाव की बात अर्थपूर्ण

मानी जा सके, किंतु ब्रह्म और ब्रह्म-विद्या के संदर्भ में तो काल, स्थान और अवस्था के आधार पर किसी प्रकार की भी भेदबुद्धि नहीं रखी जा सकती। शंकर कहते हैं कि प्राचीन काल के महामुनि वामदेव की ही भांति हम अर्वाचीन लोग, अति दुर्बल प्राणी होते हुए भी, ब्रह्म ज्ञान के न केवल अधिकारी हैं बल्कि हम उसे प्राप्त भी कर सकते हैं। इस सत्य का अनुभव करने के लिए संपूर्ण मानव जाति का आह्वान करके और उस अनुभव का मार्ग दिखला कर शंकर, अपने नाम के अनुरूप ही, समस्त विश्व के कल्याणसाधक बन गए।

इसी अर्थ में यह श्लोक है :

श्रुति-स्मृति-पुराणानाम् आलयम् करुणालयम्
नमामि भगवद्पादम् शंकरम् लोकशंकरम् ।

"भगवत्-पाद शंकर को मैं प्रणाम करता हूं, जो लोक-कल्याणकारी हैं, जो श्रुति-स्मृति-पुराण, आदि में दिए गए ज्ञान और करुणा के आलय हैं।"

---

1. ऐतरेय आरण्यक, 3-2-3
2. आत्मैव विषयोपाधिकोनुभव इतीव यापदिश्यते, अविवक्षितोपाधिश्च आत्मेति ।

शंकर की रचनाओं के कुछ चुने हुए अंश

संकेत-चिह्न

आ. बो.	:	आत्मबोधः
भ. गी. भा.	:	भगवद्गीताभाष्यम्
ब्र. सू. भा.	:	ब्रह्मसूत्रभाष्यम्
ई. उ. भा.	:	ईशोवास्योपनिषद्भाष्यम्
के. उ. प. भा.	:	केनोपनिषद्पदभाष्यम्
के. उ. वा. भा.	:	केनोपनिषद्वाक्यभाष्यम्
मा. उ. भा.	:	माण्डूक्योपनिषद्भाष्यम्
मा. का. भा.	:	माण्डूक्यकारिकाभाष्यम्

---

1. हिंदी अनुवाद मूल संस्कृत और अंग्रेजी अनुवाद दोनों को सामने रख कर किया गया है।

-- अनुवादक

श्रीमद्‌भगवत्पूज्यपादसूक्तिमंजरी

1. शास्त्र, तर्क और अनुभव

(1) वेदांत-शिक्षा, ब्रह्म-ज्ञान का स्रोत

ब्रह्म सर्वज्ञं सर्वशक्ति जगदुत्पत्तिस्थितिलयकारणं वेदांतशास्त्रा देवावगम्यते । कथम्? समन्वयात् । सर्वेषु हि वेदान्तेषु वाक्यानि तात्पर्येण एतस्यार्थस्य प्रतिपादकत्वेन समनुगतानि ।

ब्र. सू. भा. 1-1-4

ब्रह्म, जो सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, और जगत की उत्पत्ति, स्थिति और विलय का कारण है, वेदांत की शिक्षा से ही जाना जा सकता है । कैसे ? समन्वय से । सभी वेदांत-प्रतिपादनों में इसी अर्थ को तात्पर्य रूप में ग्रहण किया गया है, और इसी को लेने से विभिन्न वाक्यों में संगति बैठती है ।

(2) वेदांत-शिक्षा भेद को मिटाती है

अविद्याकल्पितभेदनिवृत्तिपरत्वात् शास्त्रस्य । न हि शास्त्रं इदंतया विषयभूतं ब्रह्म प्रतिपिपादयिषति । किं तर्हि ? प्रत्यागात्मत्वेन अविषयतया प्रतिपादयदविद्याकल्पितं वेद्य-वेदितृ-वेदनादिभेदमपनयति ।

ब्र. सू. भा. 1-1-4

वेदांत शास्त्र अविद्या-कल्पित भेद को दूर करता है । यह शास्त्र ब्रह्म को, 'यह' कह कर, किसी विषय के रूप में प्रतिपादित नहीं करना चाहता । तब क्या करता है? यह (ब्रह्म को) अंतर्निहित आत्मा, अ-विषय, के रूप में प्रतिपादित करता है, और इस प्रकार वेद्य (जानने के विषय), जानने वाले (वेदितृ) ओर जानने की प्रक्रिया (वेदना, आदि) के बीच के अविद्या-कल्पित भेद को दूर कर देता है ।

(3) शास्त्र ही प्रामाणिक ज्ञान के साधन

यत्तु उक्तम्-परिनिष्पन्नत्वात् ब्रह्मणि प्रमाणान्तराणि संभवेयुरिति, तदपि मनोरथमात्रम् । रूपाद्यभावाद्धि नायमर्थः प्रत्यक्षस्य गोचरः । लिंगाद्यभावाच्च नानुमानादीनाम् । आगममात्रसमधिगम्य एव त्वयमर्थो धर्मवत् ।

ब्र. सू. भा. 2-1-6

तब, जो यह कहा जाता है—कि ब्रह्म के संबंध में, जो पूर्ण सत्य है, प्रामाणिक ज्ञान का कोई साधन नहीं है, केवल कपोल-कल्पना है । रूप आदि के अभाव में इसे (ब्रह्म

को) किसी इंद्रिय-ज्ञान द्वारा प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता। न ही इसका अनुमान किया जा सकता है, क्योंकि इसकी कोई पहचान नहीं है। इसे तो धर्म के रूप में आगमों (शास्त्रों) से ही जाना जा सकता है।

(4) शास्त्र ही अंतिम प्रमाण

शास्त्रं त्वन्तयं प्रमाणं अतद्धर्माध्यारोपणम अनिवर्तकत्वेन प्रामाण्यमात्मनः प्रतिपद्यते, न तु अज्ञातार्थज्ञापकत्वेन। भ. गी. भा. 2-18

शास्त्र ही अंतिम प्रमाण है, आत्मा पर (भ्रमवश) जो दूसरा धर्म आरोपित कर दिया गया है उसे हटा देने से ही इसकी प्रामाणिकता प्रतिपादित होती है, न कि जो अज्ञात है उसे ज्ञात बनाने से।

(5) जिज्ञासा और तर्क का स्थान

तत्राविचार्य यत्किंचित्प्रतिपद्यमानो निःश्रेयसात् प्रतिहन्येत, अनर्थं च ईयात्। तस्मात् ब्रह्मजिज्ञासोपन्यासमुखेन वेदान्तवाक्यमीमांसा तदविरोधितर्कोपकरणा निःश्रेयसप्रयोजना प्रस्तूयते। ब्र. सू. भा. 1-1-1

यहां, जो बिना विचारे कुछ भी मान लेता है वह परम कल्याण से वंचित होता है; उसका अनर्थ ही होता है। इसलिए ब्रह्म को जानने की इच्छा—ब्रह्म जिज्ञासा—की बात कह कर, वेदांत की शास्त्रीय मीमांसा की उत्तमता बताई गई है, जिसमें तर्क को उसका विरोधी नहीं, सहायक और परम कल्याणकारी माना गया है।

(6) तर्क सहायक मात्र

श्रुत्यैव च सहायत्वेन तर्कस्याप्यभ्युपेतत्वात्। ब्र. सू. भा. 1-1-2

श्रुति अथवा शास्त्र के सहायक के रूप में तर्क का स्थान है ही।

(7) अनुभव ही कसौटी

न धर्मजिज्ञासायामिव श्रुत्यादय एव प्रमाणं ब्रह्मजिज्ञासायाम्। किन्तु श्रुत्यादयोऽनुभवादयश्च यथासंभवमिह प्रमाणम्, अनुभवावसानत्वात् भूतवस्तुविषयत्वाच्च ब्रह्मज्ञानस्य।

ब्र. सू. भा. 1-1-2

धर्म की जिज्ञासा में श्रुतियां (शास्त्र) ही प्रमाण हैं, ब्रह्म-जिज्ञासा में नहीं। किंतु यहां श्रुति आदि (शास्त्र) के साथ साथ अनुभव आदि भी यथासंभव प्रमाण है, क्योंकि ब्रह्म-ज्ञान

की अनुभव में परिणति होती है और उसका विषय भौतिक वस्तु होता है ।

(8) ब्रह्म-ज्ञान का फल

अनुभवावसानं च ब्रह्मविज्ञानं अविद्याया निवर्तकम्, मोक्षसाधनं च दृष्टफलतया इष्यते ।

ब्र. सू. भा. 2-1-4

अनुभव में परिणत होने वाला ब्रह्म-ज्ञान अविद्या को दूर करता है, वह मोक्ष का साधन है, और उसका फल देखा जा सकता है ।

2. ब्रह्म आत्मा

(9) ज्ञात से भिन्न और अज्ञात से परे

क्वचित्किंचत्कस्यचिद्विदितं स्यादिति सर्वमेव व्याकृतं विदितमेव । तस्मादन्यदेवेत्यर्थः । अविदितमज्ञातं तर्हीति प्राप्ते आह—अथेअविदिता द्विदितविपरीतादव्याकृतादविद्यालक्षणाद्व्याकृतबीजात्........ यद्विदितं तदल्पं मर्त्यं दुःखात्मकं चेति हेयम् । तस्माद्विदितादन्यद्ब्रह्म इत्युक्ते तु अहेयत्वमुक्तम् स्यात्। तथा अविदितादधीत्युक्ते अनुपादेयत्वमुक्तं स्यात् ।..... न ह्यन्यस्य स्वात्मनो विदिताविदिताभ्यामन्यत्वं वस्तुनः संभवतीत्यात्मा ब्रह्म .....। के. उ. प. भा. 1-4

जो कुछ भी व्यक्त है वह विदित है, क्योंकि (व्यक्त) कहीं पर, कुछ, और किसी के द्वारा विदित है । अतः (ब्रह्म) इससे (विदित से) अन्य (भिन्न) है । तब क्या वह वही है जो अविदित है, अज्ञात है ? इसके उत्तर में कहा है—यह उससे ऊपर (परे) भी है, अर्थात, अविदित से अन्य है; विदित से विपरीत जो है उससे भी, अर्थात व्यक्त का बीज जो अविद्या रूप अव्यक्त है, उससे भी भिन्न है....जो भी विदित है वह अल्प है, मर्त्य (मरणशील) है, और दुखजनक है, अतः हेय (त्याज्य) है । और इसलिए जब कहा गया कि ब्रह्म विदित से अन्य (भिन्न) है, तब यही कहा गया कि जो हेय (त्याज्य) है वह यह नहीं है । इसी भांति, यह कहने से कि यह अविदित से परे है, उसकी अनुपादेयता (स्वीकरणीयता) ही बताई जाती है ।........अपने से (अपनी आत्मा से) अन्य (भिन्न), कुछ भी नहीं है जो विदित और अविदित से पृथक है; अतः आत्मा ब्रह्म है.....।

(10) आत्मा ही ज्ञान है

न तु निरुपाधिकस्यात्मन एकत्वे स्वसंवेद्यता परसंवेद्यता वा संभवति । संविदनस्वरूपत्वात् संविदनान्तरापेक्षा च न संभवति । यथा प्रकाशस्य प्रकाशान्तरापेक्षाया न संभवः तद्वत् ।

के. उ. प. भा. 1-4

उपाधियों से रहित आत्मा जब एक है तब उसकी संवेद्यता (जाना जा सकना) न स्वयं उसके अपने द्वारा ही संभव है और न दूसरे के द्वारा । संवेदना (ज्ञान) उसका स्वरूप ही है, अतः यह संभव नहीं है कि वह किसी अन्य संवेदन (ज्ञान) की अपेक्षा करे । जिस प्रकार प्रकाश के लिए दूसरे प्रकाश की अपेक्षा करना संभव नहीं ।

(11) ब्रह्म सहज बोधगम्य नहीं है

यत्तु विध्वस्तसर्वोपाधिविशेषं शान्तमनन्तमेकमद्वैतं भूमारण्यं नित्यं ब्रह्म, न तत् सुवेद्यम् ।

के. उ. प. भा. 2-1

ब्रह्म, जो नित्य है, जो सभी विशिष्ट उपाधियों से रहित हे, जो शांत, अनंत, एक और अद्वैत है, और जिसे भूमा (विराट) कहा गया है, वह सुवेद्य (सहज बोधगम्य) नहीं हे ।

(12) बोध का ज्ञाता

न्यायश्च—गुणवद्गुणवता संसृज्यते, ननातुल्यजातीयम्, अतः निर्गुणं निर्विशेषं केनचिदप्यतुल्यजातीयेन संसृज्यत इत्येतत् न्यायविरुद्धं भवेत् । तस्मात् नित्यालप्तज्ञानस्वरूपज्योतिरात्मा ब्रह्म इत्ययमर्थः बोधबोद्धृत्वे आत्मनः सिध्यति, नान्यथा । के. उ. प. भा. 2-4

नियम यह है—कि जिसमें कोई गुण है उसका किसी गुण वाले के साथ संपर्क हो जाता है, उसके साथ नहीं जिसकी जाति भिन्न है । अतः यह कहना अनियमित होगा, कि जो निर्गुण, निर्विशेष, और सभी से विलक्षण है उसका भिन्न जाति के किसी से भी संपर्क हो सकता है । अतः आत्मा ही ब्रह्म है जो ज्ञान की, कभी लुप्त न होने वाली, नित्य ज्योति है । यह तभी ज्ञात होता हे जब आत्मा ही सभी बोधों की ज्ञाता होती है, अन्यथा नहीं । के. उ. प. भा. 2-4

(13) न हेय, न उपादेय

आत्मत्वान्न हेयो उपादेयो वा । अन्यत् हि अन्येन हेयमुपादेयं वा; न तेनैव तद्यस्य कस्यचिद्धेयं उपादेयं वा भवति । आत्मा च ब्रह्म सर्वान्तरत्वादविषयः अतोऽन्यस्यापि न हेयं उपादेयं वा । अन्याभावाच्च । के. उ. वा. भा. 1-4

यही आत्मा है, इसलिए यह न हेय (त्याज्य) है, न उपादेय (स्वीकरणीय) । कुछ दूसरा

ही किसी दूसरे के लिए हेय या उपादेय हो सकता है। किंतु उसी के द्वारा वह न हेय हो सकता है न उपादेय। और आत्मा ही ब्रह्म है; वह चूंकि सभी के अंदर है, इसलिए वह अविषय (बोध का विषय नहीं) है। न ही वह अन्य के द्वारा हेय या उपादेय है, क्योंकि अन्य (सत्ता) है ही नहीं।

(14) आत्मा नित्य है

सर्वव्यापि तदात्मतत्त्वं सर्वसंसारधर्मवर्जितं स्वेन निरुपाधिकेन स्वरूपेणाविक्रियमेव सत्, उपाधिकृताः सर्वाः संसारविक्रिया अनुभवतीवाविवेकिनां मूढानामनेकमिव च प्रतिदेहं प्रत्यवभासते। ई. उ. भा. 4

सर्वव्यापी आत्मा, जो सभी संसार-धर्मों (आवागमन) से रहित है, अपने उपाधिरहित स्वरूप के कारण अविकृत (अपरिवर्तनशील) रहती है, किंतु अविवेकी मूढ़ों को उपाधियों द्वारा रचे गए संसार (आवागमन) के सभी विकार (परिवर्तन) मानों अनुभव होते हैं, और अनेक दिखाई देते हैं—प्रत्येक शरीर में अलग अलग।

(15) आत्मा का निराकरण संभव नहीं

आत्मनश्च प्रत्याख्यातुमशक्यत्वात्, य एव निराकर्ता तस्यैवात्मत्वात्।

ब्र. सू. भा. 1-1-4

आत्मा का निराकरण संभव नही है ; क्योंकि वह अपनी ही आत्मा को अस्वीकार करेगा।

3. ब्रह्म और ईश्वर

(16) ब्रह्म के दो रूप

द्विरूपं हि ब्रह्म अवगम्यते, नामरूपविकारभेदोपाधिविशिष्टं, तद्विपरीतं च सर्वोपाधिविवर्जितम्. ....एकमपि ब्रह्म अपेक्षितोपाधिसंबंधं निरस्तोपाधिसंबंधं च उपास्यत्वेन ज्ञेयत्वेन च वेदान्तेषूतदिश्यते। ब्र. सू. भा. 1-1-11

ब्रह्म को दो रूपों में जाना जाता है : एक वह जो नाम और रूप जनित विकारों (परिवर्तन) के भेद से उपाधिविशिष्ट है, और, इससे विपरीत, दूसरा वह जो सब उपाधियों से रहित है।......यद्यपि ब्रह्म एक ही है किंतु वेदांत शास्त्रों के अनुसार, उपास्य का (जिसकी उपासना करनी है उसका) अपेक्षित उपाधियों के साथ, संबंध रहता है,

और ज्ञेय का (जिसे जानना है उसका) उपाधियों से कोई संबंध नही रहता ।

(17) ब्रह्म जो उपाधि रहित है

न तु ब्रह्म जातिमत्, अतो न सदादिशब्दवाच्यम्, नापि गणवत्, येन गुणशब्देनोच्येत, निर्गुणत्वात्, नापि क्रियाशब्दवाच्यम, निष्क्रियत्वात् । भ. गी. भा. 13-12

ब्रह्म किसी जाति (सत्ता) में नही आता, अतः इसे सत् आदि किसी शब्द से अभिहित नहीं किया जा सकता; निर्गुण होने के कारण यह गणवान भी नही, कि 'गुण' शब्द से इसे अभिहित किया जाय; और निष्क्रिय होने के कारण क्रिया शब्द से भी इसे अभिहित नहीं किया जा सकता ।

(18) नाम के कारण ही भेद

एकोह्ययमात्मा नाममात्रभेदेन बहुधाभिधीयत इति । ब्र. सू. भा. 1-4-12

केवल नाम के ही भेद के कारण, एक ही यह आत्मा, भिन्न भिन्न अभिहित होती है ।

(19) सगुण ब्रह्म

अस्य जगतो नामरूपाभ्यां व्याकृतस्य अनेककर्तृभोक्तृसंयुक्तस्य प्रतिनियतदेशकालक्रियाफलाश्रयस्य मनसाप्यचिन्त्यरचानरूपस्य जन्मस्थितिभंग यतः सर्वज्ञात् सर्वशक्तेः कारणाद्भवति त द्ब्रह्म । ब्र. सू. भा. 1-1-2

जिस सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान कारण से इस जगत का, जो नाम और रूप से व्यक्त (व्याकृत) है, जो अनेक कर्ता-भोक्ताओं से संयुक्त है, जो देश (स्थान), काल और क्रिया के अनुसार नियत फलों का आश्रय है, और जिसकी रचना का रूप मन द्वारा भी अचिंत्य (अविचारणीय) हे जन्म, स्थिति और भंग होता है, वही ब्रह्म है ।

(20) ईश्वर की सत्ता का प्रमाण

यदिदं जगत् देव-गन्धर्व-यक्ष-रक्षः-पितृ-पिशाचादिलक्षणं द्यु-वियत् पृथिवी-आदित्य-चन्द्र-गृह-नक्षत्रविचित्रं विविधप्राण्युपभोगयोगस्थानसाधनसंबन्धि, तदत्यन्तकुशलशिल्पिभिरपि दुर्निर्माणं देशकालनिमित्तानुरूपनियतप्रवृत्तिनिवृत्तिक्रमं एतद्भोक्तृकर्मविभागज्ञप्रयत्नपूर्वकं भवितुमर्हति, कार्यत्वे सति यथोक्तलक्षणत्वात् गृहप्रासादरथशयनासनादिवत्, विपक्षे आत्मादिवत् ।
के. उ. वा. भा. 3

यह जगत, जो देव-गंधर्व-यक्ष-राक्षस-पिशाचादि लक्षण युक्त है, जो स्वर्ग-आकाश-पृथ्वी-सूर्य-चंद्रमा-ग्रह-नक्षत्र से विचित्रित है, जो विविध प्राणियों के उपभोग के योग्य स्थानों और साधनों का संबंध बिठाने वाला है, अत्यंत कुशल शिल्पी भी जिसका निर्माण नहीं कर सकते, जिसका प्रवृत्ति-क्रम और निवृत्ति-क्रम देश-काल-निमित्त के अनुरूप नियत है, इसे किसी ऐसे ने प्रयत्न करके ही बनाया होगा जो भोक्ता और कर्म के बीच विभाग करना जानता है; क्योंकि कार्य (कारण का फल) रूप होने से इसके उक्त लक्षण हैं; जिस प्रकार गृह-प्रासाद-रथ-शय्या-आसन, आदि हैं; अथवा विपरीत स्थिति में, जिस प्रकार आत्मा, आदि नहीं हैं ।

(21) ईश्वर की सर्वज्ञता

यत्प्रसादाद्धि योगिनामप्यतीतानागतविषयं प्रत्यक्षं ज्ञानमिच्छन्ति योगशास्त्रविदः, किमु वक्तव्यं तस्य नित्यसिद्धस्येश्वरस्य सृष्टिस्थितिसंहृतिविषयं नित्यज्ञानं भवतीति ।

ब्र. सू. भा. 1-1-5

योगशास्त्र-वेत्ताओं के अनुसार, जिनके (ईश्वर के) प्रसाद से योगियों को भी अतीत और भविष्य की बात का प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाता है, उस नित्यसिद्ध ईश्वर के संबंध में तब क्या यह कहने की आवश्यकता है कि उसे (जगत के) सृष्टि-स्थिति-संहार के विषय का नित्य-ज्ञान है ।

(22) ब्रह्म, जगत का कारण

........सर्वज्ञः सर्वेश्वरो जगत उत्पत्तिकारणं, मृत्सुवर्णादय इव घटरुचकादीनाम् । उत्पन्नस्य जगतः नियन्तृत्वेन स्थितिकारणं, मायावीव मायायाः । प्रसारितस्य जगतः पुनः स्वात्मन्येवोपसंहारकारणम्, अवनिरिव चतुर्विधस्य भूतग्रामस्य । स एव च सर्वेषां न आत्मा।

ब्र. सू. भा. 2-1-1

सर्वज्ञ सर्वेश्वर ही जगत की उत्पत्ति का कारण है, जिस प्रकार मिट्टी, सोना, आदि घड़े, हार, आदि के कारण हैं । उत्पन्न हुए जगत की स्थिति का वही कारण है क्योंकि वह उनका नियन्ता है, जिस प्रकार मायावी (जादूगर) माया (जादू) का कारण है । फिर, इस प्रसारित (फैले हुए) जगत को अपने में उपसंहृत कर लेने (समेट लेने) वाला (कारण) भी वही है, जिस प्रकार चतुर्विध-भूतों (चारों प्रकार के प्राणियों) के लिए पृथ्वी । हम सब की वही आत्मा है ।

(23) ईश्वर साधारण कारण है

ईश्वरस्तु पर्जन्यवत् द्रष्टव्यः । यथा हि पर्जन्यो व्रीहियवादिसृष्टौ साधारणं कारणं भवति, व्रीहियवादिवैषम्ये तु तत्तद्वीजगतान्येव असाधारणानि सामर्थ्यानि कारणानि भवन्ति, एवमीश्वरो

देवमनुष्यादिसृष्टौ साधारणं कारणं भवति। देवमनुष्यादिवैषम्ये तु तत्तज्जीवगतान्येवासाधारणानि कर्माणि कारणानि भवन्ति। ब्र. सू. भा. 2-1-34

ईश्वर को वर्षा के समान देखना चाहिए। ठीक जिस प्रकार वर्षा धान, जौ, आदि की सृष्टि का साधारण कारण होती है, और धान, जौ, आदि की विषमता (भिन्नता) का असाधारण कारण उनके अलग-अलग प्रकार के बीजों की सामर्थ्य का होना है, उसी प्रकार ईश्वर भी देव, मनुष्य आदि की सृष्टि का साधारण कारण होता है, किंतु देव, मनुष्य आदि के बीच में जो वैषम्य पाया जाता है उसका कारण उन भिन्न भिन्न जीवों के असाधारण कर्म ही होते हैं।

(24) ईश्वर का अवतार

स च भगवान् ज्ञानैश्वर्यशक्तिबलवीर्यतेजोभिः सदा संपन्नः त्रिगुणात्मिकां वैष्णवीं स्वां मायां मूलप्रकृतिं वशीकृत्य अजोऽव्ययो भूतानामीश्वरः नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावोऽपि सन् स्वमायया देहवानिव जात इव लोकानुग्रहं कुर्वन् लक्ष्यते, स्वप्रयोजनाभावेऽपि भूतानुजिघृक्षया।
भ. गी. भा. भूमिका

ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति, बल, वीर्य और तेज से सदा संपन्न वह भगवान अपनी त्रिगुणात्मिका मूल प्रकृति वाली वैष्णवी माया को अपने वशीभूत किए हुए है; और यद्यपि वह अज (अजन्मा), अव्यय (जो घटता नहीं), सभी भूतों (प्राणियों) का स्वामी है, और स्वभाव से नित्य, शुद्ध, बुद्ध और मुक्त है, वह लोक-कल्याण के लिए अपनी माया से देह धारण करता हुआ दिखाई देता है; अपना कोई प्रयोजन न रहने पर भी प्राणियों की भलाई करने के लिए।

(25) परमात्मा संसार से अछूता

यथा स्वयं प्रसारितया मायया मायावी त्रिष्वपि कालेषु न संस्पृश्यते, अवस्तुत्वात्, एवं परमात्मापि संसारमायया न संस्पृश्यत इति। यथा च स्वप्नदृगेकः स्वप्नदर्शनमायया न संस्पृश्यते, प्रबोधसंप्रसादयोरनन्वागतत्वात्। एवं अवस्थात्रयसाक्ष्येकोऽव्यभिचार्यवस्थात्रयेण व्यभिचारिणा न संस्पृश्यते। मायामात्रं ह्येतत् यत्परमात्मनोऽवस्थात्रयात्मनावभासनं रज्जवा इव सर्पादिभावेनेति। ब्र. सू. भा. 2-1-9

जिस प्रकार कोई मायावी (जादूगर) अपनी फैलाई हुई माया से तीनों कालों में (भूत, वर्तमान, भविष्य) अछूता ही रहता है, क्योंकि वह अयथार्थ है, उसी प्रकार परमात्मा भी संसार की माया से अछूता रह जाता है। और जिस प्रकार स्वप्न देखने वाला स्वप्न-दर्शन की माया से, जाग्रत अवस्था और घोर निद्रा में उसके न रह जाने (लुप्त हो जाने)

के कारण, अछूता रहता है, उसी प्रकार (अनुभव की) तीनों अवस्थाओं का एक अव्यभिचारी (स्थिर) साक्षी उन तीनों व्यभिचारी (बदलती रहने वाली) अवस्थाओं से अछूता ही रह जाता है। इन तीनों अवस्थाओं में परमात्मा आत्मा-स्वरूप ही जो दिखाई देता है, यह ठीक वैसी ही माया है जैसी कि रस्सी से सांप का भ्रम देने वाली माया।

4. माया और जगत

(26) द्वैत की माया

यत्परमार्थसदद्वैतम्, मायया भिद्यते ह्येतत् तैमिरिकानेकचन्द्रवत् रज्जुः सर्पधारादिभिर्भेदैरिव, न परमार्थतः, निरवयवत्वादात्मनः। सावयवं हि अवयवान्यथात्वेन भिद्यते, यथा मृद्घटादिभेदैः। तस्मान्निरवयवमजं नान्यथा कथंचन केनचिदपि प्रकारेण न भिद्यत इत्यभिप्रायः। तत्त्वतो भिद्यमानं हि अमृतमजमद्वयं स्वभावतः सत् मर्त्यतां व्रजेत्, यथा अग्निः शीतताम्। तच्चानिष्टं स्वभाववैपरीत्यगमनम्, सर्वप्रमाणविरोधात्। अजमद्वयमात्मतत्त्वं माययैव भिद्यते, न परमार्थतः। तस्मान्न परमार्थसद् द्वैतम्॥ मा. का. भा. 3-19

जो पारमार्थिक रूप में सत् है वह अद्वैत है, माया के कारण वह विभक्त दिखाई देता है, जिस प्रकार आंखों में दोष रहने पर चंद्रमा अनेक दिखाई देते हैं, अथवा रस्सी में सांप या पानी की धारा, आदि दिखाई देने लगती है, किंतु यथार्थ में वैसा नहीं है, क्योंकि आत्मा निरवयव (अंग रहित) है। सच तो यह है कि जो सावयव (अंगों से युक्त) है वह अवयवों (अंगों) के बदलने से बदल जाता है, जिस प्रकार मिट्टी घड़े, आदि के नाना रूपों में बदल जाती है। अतः जो निरवयव और अज (जन्महीन) है वह किसी प्रकार भी भिन्न नहीं हो सकता यही आशय है। जो अमर, अज और अद्वय (जिसका दूसरा नहीं) है वह यदि तत्वतः (सचमुच ही) भिन्नता प्राप्त कर ले तब तो वह मर्त्य (मृत्युशील) ही हो गया, जिस प्रकार अग्नि, शीतल हो जाने पर। किंतु यह मानने की बात नहीं है, क्योंकि जो स्वभाव है उससे विपरीत होना सभी प्रमाणों के विरुद्ध है। अज, अद्वय, आत्मतत्व माया के कारण ही भिन्न दिखाई देता है, वस्तुतः भिन्न नहीं होता। अतः द्वैत पारमार्थिक सत् नहीं है।

(27) भ्रम की शक्ति, माया

यदि आत्मैक एवेति निश्चयः, कथं प्राणादिभिरनन्तैर्भावैः एतैः संसारलक्षणैर्विकल्पित इति? उच्यते, शृणु–मायैष तस्यात्मनो देवस्य। यथा मायाविना विहिता माया गगनमतिविमलं

कुसुमितैः सपलाशैः तरुभिराकीर्णमिव करोति, तथा इयमपि देवस्य माया अयं स्वयमपि मोहित इव मोहितो भवति । भा. का. भा. 2-19

यदि यह निश्चित है कि आत्मा एक ही है, तब सांसारिक लक्षणों वाले प्राण, आदि अनंत भावों के रूप में उसकी कल्पना कैसे हुई ? इसका उत्तर सुनें । उस दिव्य आत्मा की यह माया है । जिस प्रकार किसी मायावी (जादूगर) की रचित माया से अति निर्मल आकाश पुष्पित और पल्लवित वृक्षों से भरा हुआ दिखाई देता है, उसी प्रकार यह भी देव की माया ही है जिससे मानो यह स्वयं भी मोहग्रस्त हो उठता है ।

(28) माया की शक्ति

अविद्यात्मिका बीजशक्तिः अव्यक्तशब्दनिर्देश्या परमेश्वराश्रया मायामयी महासुषुप्तिः, यस्यां स्वरूपप्रतिबोधरहिताः शेरते संसारिणो जीवाः ......अव्यक्ता हि सा माया, तत्त्वान्यत्वनिरूपणस्याथाशक्यत्वात् । ब्र. सू. भा. 1-4-3

बीज-शक्ति (सृष्टि करने वाली) अविद्या स्वरूपिणी है, 'अव्यक्त' शब्द से उसका निर्देश (वर्णन) होता है, वह परमेश्वर पर आश्रित है, वह मायामयी है, वह महासुषुप्ति (निद्रा) है । अपने स्वरूप के प्रतिबोध (ज्ञान) से रहित संसार (आवागमन करने वाले) जीव उसमें सोए रहते हैं ।

अव्यक्त ही माया है, क्योंकि उसका निरूपण न तो (वास्तविक) 'यह है' कह कर किया जा सकता है, न (अवास्तविक) 'यह अन्य है' कह कर ।

(29) जो नहीं है

सा च माया न विद्यते । मायेत्यविद्यमानस्याख्या । भा. का. भा. 4-58

माया वह है जो विद्यमान नहीं है । माया अविद्यमान का नाम है ।

(30) भिन्नता परम सत्य नहीं

भेदस्तु उपाधिनिमित्तो मिथ्याज्ञानकल्पितो न पारमार्थिकः । ब्र. सू. भा. 1-4-10

भेद उपाधियों के कारण है, मिथ्या ज्ञान से कल्पित है, और वह पारमार्थिक (सत्य) नहीं है ।

(31) सृष्टि की तुलना रस्सी के जादू से

विभूतिर्विस्तार ईश्वरस्य सृष्टिरिति सृष्टिचिन्तका मन्यन्ते, न तु परमार्थचिन्तकानां सृष्टावादरः ।........न हि मायाविनं सूत्रमाकाशे निक्षिप्य तेन सायधमारुह्य चक्षुर्गोचरतामतीत्य युद्धेन खण्डशः छिन्नं पतितं पुनरुत्थितं च पश्यतां तत्कृतमायादिसतत्त्वचिन्तायामादरो भवति। तथैवायं मायाविनः सूत्रप्रसारणसमः सुषुप्तस्वप्नादिविकासः तदारूढमायाविसमश्च तत्स्थः प्राज्ञतैजसादिः, सूत्रतदारूढाभ्यामन्यः परमार्थमायावी । स एव भूमिष्ठा मायाच्छन्नोऽदृष्यमान एव स्थितो यथा तथा तुरीयाख्यं परमार्थतत्त्वम् । अतस्तच्चिन्तायामेवादरो मुमुक्षूणामार्याणां, न निष्प्रयोजनायां सृष्टावादर इति । भा. का. भा. 1-7

सृष्टि पर विचार करने वाले चिंतक मानते हैं कि वह ईश्वर का विस्तार है । किंतु परमार्थ-चिंतक सृष्टि के संबंध में कुछ नहीं मानते......मायावी (जादूगर) जब आकाश में रस्सी फेंक कर, अपने हथियार सहित उस पर चढ़ जाता है, फिर आंखों से ओझल हो जाता है, युद्ध में खंड खंड होकर जब गिर पड़ता है, और फिर उठ खड़ा होता है तब दर्शक उसकी उस माया (जादू) को सच समझने की भूल नहीं करते । उस मायावी के रस्सी फेंकने के ठीक समान ही निद्रा, स्वप्न आदि का विकास है; उस रस्सी पर चढ़ने वाले मायावी के समान ही प्राज्ञ, तेजस, आदि हैं जो उसमें (अनुभव की अवस्थाओं में) स्थित हैं; रस्सी और उस पर चढ़ने वाले से भिन्न है परमार्थ (वास्तविक) मायावी; वह भूमि पर रहते हुए, अपनी ही माया से आच्छन्न (छिपा) रहने के कारण, अदृश्य रहता है । परमार्थ तत्व (वास्तविक सत्य) जिसे 'तुरीय' कहते हैं, ठीक वेसा ही है । अतः मोक्ष की इच्छा रखने वाले आर्यों की आकांक्षा उसी के चिंतन में रहती है, निष्प्रयोजन रूप में सृष्टि के संबंध में वे चिंता नहीं करते ।

(32) संसार 'माया' है

न हि रज्ज्वां भ्रान्तिबुद्धया कल्पितः सर्पो विद्यमानः सन्विवेकतो निवृत्तः, न च माया मायाविना प्रयुक्ता तद्दर्शिनां चक्षुर्बन्धापगमे विद्यमाना सती निवृत्ता, तथेदं प्रपञ्चाख्यं मायामात्रं द्वैतम्, रज्जुवन्मायाविवच्च अद्वैतं परमार्थतः, तस्मान्न कश्चिन्प्रपंचः प्रवृत्ता निवृत्तो वाऽस्ति । भा. का. भा. 1-17

यह बात नहीं है कि रस्सी में भ्रम-बुद्धि से जिस सांप की कल्पना कर ली गई वह विद्यमान तो था, पर विवेक द्वारा उसका लोप किया गया । यह भी नहीं, कि मायावी ने जिस माया का प्रयोग किया वह वस्तुतः विद्यमान थी और दर्शकों की आंखें (जो माया से बंद हो गई थीं) खुल जाने पर वह निवृत्त हो गई । ठीक उसी भांति यहां भी प्रपंच (संसार) कहलाने वाला द्वेत भी माया मात्र है । और अद्वेत, जो रस्सी और मायावी के समान है, परमार्थ (परम सत्य) है । अतः कोई भी प्रपंच (संसार) न प्रवृत्त हुआ है, न निवृत्त ।

(33) संसार असत् है

यथा च प्रसारित पण्यापणगृहप्रसादश्रीपुंजनपदव्यवहाराकीर्णमिव गन्धर्वनगरं दृश्यमानमेव सत् अकस्मादभावतां गतं दृष्टम्, यथा च स्वप्नमाये दृष्टे असद्रूपे, तथा विश्वमिदं द्वैतमसद् दृष्टम्।

भा. का. भा. 2-31

जिस प्रकार आकाश में कल्पना-प्रसूत कोई गंधर्व नगर, बिक्री की तरह तरह की सामग्री से भरी दुकानों, घरों, महलों, ग्रामों और नर-नारियों की चहलपहल से पूरा का पूरा सच्चा ही दिखाई देता है, किंतु अचानक ही तिरोहित हो जाता है, और जिस प्रकार स्वप्न और माया (जादू) के चित्र अवास्तविक ही सिद्ध होते हैं, उसी प्रकार यह सारा द्वैत विश्व भी असत् (अवास्तविक) है ।

(34) द्वैत असत् है

उपालभ्यते हि मायाहस्ती हस्तीव, हस्तिनमिवमात्र समाचरन्ति बन्धनारोहणादि हस्तिसंबन्धिभिर्धर्मैः, हस्तीति चोच्यते असन्नपि यथा, तथैवोपलम्भात्समाचारात् द्वैतं भेदरूपमस्ति वस्तु इति उच्यते । तस्मान्नोपालम्भासमाचारौ द्वैतवस्तुसद्भावे हेतू भवत इत्यभिप्रायः ।।

मा. का. भा. 4-44

माया-हस्ती (जादू के कारण दिखाई देने वाला हाथी) सच्चा हाथी ही जान पड़ता है, और हाथी संबंधी सभी कार्य, जैसे, बांधा जाना, सवारी के काम आना—उसके द्वारा संपन्न होते हैं, ओर उसे हाथी ही कहा जाता हे, जब कि वह वस्तुतः कुछ हे ही नहीं । उसी प्रकार द्वैत भी, जो भेद-रूप हे, प्रत्यक्ष होने के कारण, और (उपयोग के नाते भी, 'है' की भांति ही जान पड़ता हे । अतः प्रत्यक्ष होना ओर उपयोग) द्वैत वस्तु की सत्ता के कारण नहीं हो सकते—यही अभिप्राय है ।

(35) जगत की ब्रह्म से भिन्न सत्ता नहीं

यथा घटकरकाद्याकाशानां महाकाशादनन्यत्वं, यथा च मृगतृष्णिकोदकादीनां ऊषरादिभ्योऽनन्यत्वं, दृष्टनष्टस्वरूपत्वात् स्वरूपेणानुपारव्यत्वात् एवमस्य भोग्यभोक्त्रादि प्रपञ्चजातस्य ब्रह्मव्यतिरेकेणाभावः।

ब्र. सू. भा. 2-1-14

जिस प्रकार घड़े के अंदर व्याप्त और कमंडल के अंदर व्याप्त आकाशों की महा-आकाश से भिन्नता नहीं है, और जिस प्रकार मृग-तृष्णा के पानी, आदि ओर मरुभूमि की रेती, आदि के बीच कोई भिन्नता नहीं है, क्योंकि उनका स्वरूप ही दृष्ट-नष्ट (दिखाई देने पर नष्ट हो जाने वाला) है, और इसलिए भी कि उनके स्वरूप की परिभाषा नहीं हो सकती, उसी प्रकार भोग्य, आदि प्रपंच से युक्त इस जगत की ब्रह्म से भिन्न कोई सत्ता नहीं है ।

(36) जगत की भ्रामकता की पुष्टि

जाग्रद्दश्यानां भावानां वैतथ्यमिति, प्रतिज्ञा। दृश्यत्वादिति हेतुः। स्वप्नदृश्यभाववदिति दृष्टान्तः। यथा तत्र स्वप्ने दृश्यानां भावनां वेतथ्यं, तथा जागरितेऽपि दृश्यत्वमविशिष्टमिति हेतूपनयः। तस्माज्जागरितेऽपि वैतथ्यं स्मृतिमिति निगमनम्। अन्त:स्थानात्संवृतत्वेनच स्वप्नदृश्यानां भावानां जाग्रद्दृश्येभ्यो भेदः। दृश्यत्वमसत्यत्वं चाविशिष्टमुभयत्र।

मा. का. भा. 2-4

जाग्रत अवस्था में देखी जाने वाली वस्तु भ्रामक है—यह है प्रतिज्ञा (आधार-वाक्य)। हेतु है—उनका दिखाई पड़ना। दृष्टांत है—जिस तरह स्वप्न में भी दिखाई पड़ती है। तो जिस प्रकार स्वप्न में दिखाई देने वाली वस्तु भ्रम रूप है, उसी प्रकार जाग्रत अवस्था में भी। उपनय (अन्योन्य अंत:संबंध) यह हुआ कि 'दिखाई पड़ना' दोनों अवस्थाओं में समान है। अतः निगमन (निष्कर्ष) यह दिया गया कि जाग्रत अवस्था भी अवास्तव (भ्रम) है। स्वप्न में देखी गई वस्तु अंत:स्थानीय (अंदर) और बंद रहने के कारण जाग्रत अवस्था में देखी गई वस्तु से भिन्न होती है। किंतु स्वप्न और जाग्रत दोनों ही अवस्थाओं में दृश्यत्व (दिखा जाना) ओर असत्यत्व तो समान ही हैं।

(37) जगत की भ्रामकता का प्रमाण

इतश्च वेतथ्यं जाग्रद्दृश्यानां भेदानाम्, आद्यन्तयोरभावात्, यदादावन्ते च नास्ति वस्तु मृगतृष्णिकादि, तन्मध्येऽपि नास्तीति निश्चितं लोके। तथेमे जाग्रद्दृश्या भेदाः आद्यन्तयोरभावात् वितथैरेव मृगतृष्णिकादिभिः सदृशत्वाद्वितथा एव, तथापि अवितथा इव लक्षिता मूढैरनात्मविद्भिः। मा. का. भा. 2-6

इसलिए जाग्रत अवस्था में देखे गए दृश्य भी मिथ्या हैं; उनके आदि और अंत का अभाव होने के कारण, मृगतष्णा आदि की ही भांति जो वस्तु आदि और अंत में नहीं है उसका मधवर्त्ती भी कुछ नहीं है—यह लोक-प्रचलित निश्चित मान्यता है। इसी भांति जाग्रत अवस्था के ये विभिन्न दृश्य भी अयथार्थ हैं क्योंकि मृगतृष्णा आदि की ही भांति इनका भी आदि-अंत नहीं है। किंतु फिर भी आत्मा को न जानने वाले मूढ़ लोगों को वे यथार्थ की भांति दिखाई पड़ते हैं।

(38) सृष्टि संबंधी श्रुति

मृल्लोहविस्फुलिंगादिदृष्टान्तोपन्यासैः सृष्टिः या च उदिता प्रकाशिता कल्पिता अन्यथान्यथा च, ससर्वः सृष्टिप्रकारो जीवपरमात्मैकत्वबुद्ध्यवतारायोपायोऽस्माकम्, यथा प्राणसंवादे वागाद्यासुरपाप्मवेधाद्याख्यायिका कल्पिता प्राणवैशिष्ट्यवोधावताराय....शाखा भेदेषु अन्यथान्यथा च प्राणादिसंवादश्रवणात्। यदि हि वादः परमार्थ एवाभूत्, एकरूप एव संवादः सर्वशाखास्वश्रोष्यत

विरुद्धानेकप्रकारेण नाश्रोष्यत, श्रूयते तु, तस्मान्न तादार्थ्य संवादश्रुतीनाम् ।......तस्मादुत्पत्त्यादि श्रुतय आत्मैकत्वबुद्ध्यवतारायैव ।। मा. का. भा. 3-15

मिट्टी, लोहा, चिनगारी, आदि के दृष्टांतों द्वारा अथवा अन्य प्रकारों से जिस सृष्टि को प्रकाशित या कल्पित बताया गया है (शास्त्रों में)—सृष्टि का यह समस्त प्रकार हमारे अंदर जीव और परमात्मा के एकत्व की भावना उत्पन्न करने का उपाय है । साधन जिस प्रकार प्राण-संवाद (शास्त्रीय विवेचना का एक प्रसंग) में यह कथा है कि वाक् आदि को असुरों ने पाप से विद्ध किया, जिसका उद्देश्य प्राण की विशिष्टता का बोध कराना है........भिन्न भिन्न शाखाओं में प्राण-संवाद की कथा भिन्न भिन्न प्रकारों से कही गई है । यदि यह संवाद सचमुच घटित हुआ होता तो उसकी सभी शाखाओं में उसका संवाद एक ही रहता, अनेक प्रकारों में परस्पर-विरोधी न होता, जैसा कि उन शाखाओं में है । अतः इन संवादों की शिक्षा यह नहीं हे कि ये सचमुच ही घटित हुए ।.. इस प्रकार, सृष्टि, आदि संबंधी श्रुतियां आत्मा के एकत्वबोध की ही अवतारणा (भूमिका) है ।

(39) व्यवहार जगत, चरम सत्य नहीं

सर्वव्यवहाराणामेव प्राग्ब्रह्मात्मताविज्ञानात् सत्यत्वोपत्तेः । स्वप्नव्यवहारस्येव प्राक्प्रबोधात् । यावद्धि न सत्यात्मैकत्वप्रतिपत्तिः तावत्प्रमाणप्रमेयफललक्षणेषु विकारेषु अनृतत्वबुद्धिर्न कस्यचित् उत्पद्यते । विकारानेव तु 'अहं', 'मम' इत्यविद्यया आत्मात्मीयेन भावेन सर्वो जन्तुः प्रतिपद्यते स्वाभाविकीं ब्रह्मात्मतां हित्वा । ब्र. सू. भा. 2-1-14

ब्रह्म ही आत्मा है, यह ज्ञान होने से पूर्व सभी व्यवहार सत्य है, जिस प्रकार स्वप्न में हुए व्यवहार जागने से पहले तक सत्य रहते हैं । जब तक एक ही सत्य-स्वरूप आत्मा की प्रतिपत्ति (पूर्ण ज्ञान) नहीं होती तब तक किसी को भी यह बोध नहीं होता कि प्रमाण, प्रमेय और फल जिनका लक्षण है, वे विकार मिथ्या हैं । इन विकारों की ही अविद्या के फलस्वरूप सब प्राणी मैं, 'मेरा', आदि के रूप में आत्मीय (अपना) मान लेते हैं, और ब्रह्म ही आत्मा है, इस स्वाभाविक सत्य को छोड़ बैठते हैं ।

5. जीव

(40) जीव

जीवो हि नाम चेतनः शरीराध्यक्षः प्राणानां धारयिता ब्र. सू. भा. 1-1-6

जिसे कवि कहा जाता है वह शरीर का अध्यक्ष चेतन हे, जो प्राणों को धारण करता है ।

(41) जीव ब्रह्म से भिन्न नहीं

न हि जीवो नाम अत्यन्तभिन्नो ब्राह्मणः ।.......बुद्धयाद्युपाधिकृत तु विशेषमाश्रित्य ब्रह्मेव सन् जीवः कर्त्ता भोक्ता चेत्युच्यते । ब्र. सू. भा. 1-1-31

वस्तुतः जिसे जीव कहते हें वह ब्रह्म से अत्यंत (संपूर्ण रूप से) भिन्न नहीं हे ।... ब्रह्म होने पर भी जीव बुद्धि, आदि उपाधियों का आश्रय लेने के कारण कर्त्ता ओर भोक्ता कहलाने लगता है ।

(42) भेद का कारण अविद्या

विज्ञानात्मपरमात्मनोः अविद्याप्रत्युपस्थापितनामरूपरचितदेहाद्युपाधिनिमित्तो भेदो न पारमार्थिकः
ब्र. सू. भा. 1-4-22

आत्मा ओर परमात्मा के बीच का भेद पारमार्थिक भेद नहीं है; वह तो अविद्या के कारण जान पड़ता है जो नाम-रूप से रचित देहादि उपाधियों के फलस्वरूप है ।

(43) उपाधियों का अध्यारोप

आज्ञानान्मानसोपाधेः
कर्तृत्वादीनि चात्मनि ।
कल्प्यन्तेऽम्बुगते चन्द्रे
चलनादि यथाम्भसः ।। आ. बो. 22

अज्ञान के कारण ही आत्मा पर कर्तव्य, आदि मानसिक उपाधियों का अध्यारोप होता हे, जिस प्रकार पानी में (प्रतिविंबित) चंद्रमा पर जल की गति का अध्यारोप हो जाता है ।

(44) आकाश से तुलना

आत्मा परः हि यस्मात् आकाशवत् सूक्ष्मो निरवयवः सर्वगतः आकाशवदुक्तः जीवैः क्षेत्रज्ञैः घटाकाशैरिव घटाकाशतुल्यैः उदितः उक्तः, स एव आकाशसमः पर आत्मा । अथवा घटाकाशैर्यथा आकाश उदितः उत्पन्नः, तथा परो जीवात्मभिरुत्पन्नः, जीवात्मनां परस्मादात्मन उत्पत्तिर्या श्रूयते वेदान्तेषु, सा महाकाशाद्घटाकाशोत्पत्तिसमा, न परमार्थत इत्यभिप्रायः । तस्मादेवाकाशाद्घटादयः संघाता यथा उत्पद्यन्ते, एवमाकाशस्थानीयात्परमात्मनः पृथिव्यादिभूत संघाताः आध्यात्मिकाश्च कार्यकरणलक्षणा रज्जुसर्परज्जसंर्पवद्विकल्पा जायन्ते ।

मा. का. भा. 3-3

परमात्मा चूंकि आकाश की ही भांति सूक्ष्म, निरवयव और सर्वगत है, इसलिए उसकी तुलना आकाश के साथ की गई है । और कहा गया हे कि यह जीवों के रूप में व्यक्त होता है, जो घटों (घड़ों) में सीमित आकाश के रूप में है। वह परमात्मा आकाश के सदृश ही है । अथवा ठीक जिस भांति आकाश की उत्पत्ति घटाकाशों (की सीमितता) के कारण ही बताई जाती है, उसी प्रकार परमात्मा की भी उत्पत्ति क्षेत्रज्ञ जीवों के कारण बताई जाती हे । वेदांत शास्त्रों में जीवात्मा की जो उत्पत्ति परमात्मा से बताई गई है वह महाकाश से घटाकाश की उत्पत्ति के ही समान है, अर्थात वह पारमार्थिक सत्य नहीं है । इस प्रकार, जैसे आकाश से घट, आदि की उत्पत्ति होती हे, उसी प्रकार आकाश रूप परमात्मा से पृथ्वी आदि भूतसंघात और कार्य-कारण रूप आध्यात्मिक भाव उत्पन्न होते हैं; अर्थात रस्सी में सांप की कल्पना की भांति जान पड़ते हैं ।

6. ज्ञान और कर्म

(45) ज्ञान द्वारा द्वैत का नाश

रोगार्तस्येव रोगनिवृत्तौ स्वस्थता, तथा दुःखात्मकस्यात्मनो द्वैतप्रपञ्चोपशमे, स्वस्थता, अद्वैतभावः प्रयोजनम् । द्वैतप्रपञ्चस्य च अविद्याकृतत्वात् विद्यया तदुपशमः स्तात ।

मा. का. भा. भूमिका

रोगी के रोग की निवृत्ति होने पर जिस प्रकार उसे स्वस्थ अवस्था प्राप्त होती है, उसी प्रकार जो दुखी है उसके द्वैत-प्रपंच का शमन (निराकरण) हो जाने पर स्वस्थता प्राप्त होती है, जिसका लक्ष्य अद्वैतभाव है । और चूंकि द्वैत-प्रपंच का कारण अविद्या है, इसलिए उसका उपशम विद्या द्वारा होता है ।

(46) कर्म और ज्ञान : दोनों में भेद

अविरोधिताकर्म
नाविद्यां विनिवर्तयेत् ।
विद्याऽविद्यां निहन्त्येव
तेजस्तिमिरसंघवत् ।। आ. बो. 3

कर्म से अविद्या का नाश नही होता, क्योंकि वह उसका विरोधी नही है; अविद्या का नाश विद्या करती है, जिस प्रकार घोर अंधकार का नाश प्रकाश करता है ।

(47) अज्ञान का नाश

परिच्छिन्न इवाज्ञानात्
तन्नाशे सति केवलः ।
स्वयं प्रकाशते ह्यात्मा
मेघापाये अंशुमानिव ।। आ. बो. 4

अज्ञान के कारण आत्मा परिच्छिन्न (सीमित) जैसी जान पड़ती है; जब उसका नाश हो जाता है तब केवल (शुद्ध) आत्मा स्वयं ही प्रकाशित हो उठती है, जिस प्रकार मेघ के हट जाने पर सूर्य ।

(48) कर्म और ज्ञान

ज्ञानकर्मणोर्विरोधं पर्वतवदकम्प्यम् ।
"द्वाविमावथ पन्थानौ यत्र वेदाः प्रतिष्ठिताः ।
प्रवृत्तिलक्षणों धर्मों निवृत्तिश्च विभावितः ।।" इत्यादि पुत्राय विचार्य निश्चितमुक्तं व्यासेन वेदाचार्येण भगवता ।। ई. उ. भा. 2

ज्ञान और कर्म के बीच पर्वत जेसा अटल विरोध है ।.....वेदाचार्य भगवान् व्यास ने निश्चित विचार करने के बाद अपने पुत्र से कहा था : "वेदों में ये ही दो मार्ग बताए गए हैं; एक प्रवृत्ति-धर्म कहलाता है, ओर दूसरा निवृत्ति धर्म ।"

(49) ज्ञान कर्म-विरोधी है

कर्मविषये चानुक्तिः, तद्विरोधित्वात् । अस्य विजिज्ञासितव्यस्य आत्मतत्त्वस्य कर्मविषयेऽवचनम्। कस्मादिति चेत्, आत्मनो हि यथावद्विज्ञानं कर्मणाविरुध्यते । निरतिशयब्रह्मस्वरूपो ह्यात्मा विजियज्ञापयिषितः ।...न हि स्वाराज्येऽभिषिक्तो ब्रह्मत्वं गमितः कंचन नमितुमिच्छति । अतो

ब्रह्मास्मीति संबुद्धो न कर्म कारयितुं शक्यते । न ह्यात्मानमवाप्रार्थं ब्रह्म मन्यमानः प्रवृत्ति प्रयोजनवतीं पश्यति । न च निष्प्रयोजना प्रवृत्तिः । अतो विरुध्यत एष कर्मणा ज्ञानम् । अतः कर्मविषयेऽनुक्तिः ।
के. उ. वा. भा. भूमिका

कर्मकांड के संदर्भ में कुछ भी नहीं कहा गया है (आत्मा के संबंध में), क्योंकि उसका उसके साथ विरोध है । इसलिए जो आत्मतत्व यहां (उपनिषद् में) बताए जाने योग्य हैं उसका कर्म के संदर्भ में उल्लेख नहीं किया गया है । ऐसा क्यों है ? उत्तर यह है कि आत्मा के यथावत् (यथार्थ) ज्ञान का कर्मकांड के साथ विरोध है । सर्वोत्कृष्ट ब्रह्म-स्वरूप आत्मा ही जानने योग्य है ।....जो स्व-राज्य में अभिषिक्त है (जो आत्मनिर्भर है) और जिसने ब्रह्मत्व प्राप्त कर लिया है वह कदापि किसी के सम्मुख नमित होना नहीं चाहता; अतः जिसे 'मैं ब्रह्म हूं' यह बोध हो गया है वह किसी से कर्म नहीं करा सकता । जो आत्मा को ही परम लक्ष्य स्वरूप ब्रह्म मानता है वह प्रवृत्ति (कर्म) मे ाई प्रयोजन (लाभ) नहीं देखता । और जो कर्म निष्प्रयोजन है उसमें किसी की प्रवृत्ति नहीं होती । अतः ज्ञान निश्चय ही कर्म का विरोधी है । इसलिए यह स्पष्ट हो जाता है कि कर्मकांड के संदर्भ में आत्मज्ञान का कुछ भी उल्लेख नहीं किया गया ।

(50) ज्ञान, कर्म-निर्भर नहीं

न हि सर्वक्रियाकारकफलभेदबुद्धितिरस्कारिण्या ब्रह्मविद्यायाः शेषापेक्षा सहकारिसाधनसंबन्धो वा युज्यते । सर्व विषयव्यावृत्तप्रत्यगात्मविषयनिष्ठत्वाच्च ब्रह्मविद्यायाः तत्फलस्य च निश्रेयसस्य 'मोक्षमिच्छन्सदा कर्म त्येजेदेवससाधनम् । त्यजतैव हि तज्ज्ञेयं त्यक्तुः प्रत्यक्परं पदम् ।' तस्मात कर्मणां सहकारित्वं कर्मशेषापेक्षा वा न ज्ञानस्योपपद्यते ।
के. उ. प. भा. 4-7

क्रिया, कारक और उसके फल के बीच सभी प्रकार की भेद-बुद्धि का तिरस्कार करने वाली ब्रह्मविद्या में न तो किसी शेष की ही अपेक्षा करना उचित है और न किसी सहकारी साधन-संबंध की; क्योंकि ब्रह्मविद्या सभी विषयों से निवृत्त जो प्रत्यगात्मा रूप विषय है उसमें, और उसके फल-रूप मोक्ष में ही स्थित है । कहा गया है "मोक्ष चाहने वाले को सदा कर्म और उसके साधनों का त्याग करना चाहिए । जो इस प्रकार का त्याग करता है उसी को प्रत्यगात्मा रूप परम-पद प्राप्त होता है ।" अतः, ज्ञान को कर्म की सहायता की या कर्म का शेष होने की आवश्यकता पड़े, यह कैसे संभव है ?

(51) कर्म द्वारा चित्त-शुद्धि

सर्वमेतद्यथोक्तं कर्म च ज्ञानं च सम्यगनुष्ठितं निष्कामस्य मुमुक्षोः सत्त्वशुद्ध्यर्थं भवति । सकामस्य तु ज्ञानरहितस्य केवलानि श्रौतानि स्मार्तानि च कर्माणि दक्षिणमार्गप्रतिपत्तये

पुनरावृत्तये च भवन्ति । स्वाभाविक्या त्वशास्त्रीयया प्रवृत्त्या पश्वादिस्थावरान्ताधोगतिः स्यात् । ....विशुद्धसत्त्वस्य तु निष्कामस्यैव बाह्यादनित्यात् साध्यसाधनसंबन्धादिह कृतात् पूर्वकृताद्वा संस्कारविशेषोद्भवाद्विरक्तस्य प्रत्यगात्मविषया जिज्ञासा प्रवर्तते ।

के. उ. प. भा. भूमिका

यह सभी कर्म और ज्ञान (कर्मकांड से संबद्ध) जब किसी निष्काम मुमुक्षू (मोक्ष चाहने वाले) द्वारा सम्यक् रूप में अनुष्ठित होता है, तब यह चित्त-शुद्धि करता है । किंतु जो सकाम और ज्ञानरहित है उसके द्वारा किए गए श्रुति-स्मृति विहित कार्य भी उसे दक्षिण मार्ग पर ले जाते हैं और (अंत में) संसार में फिर से आने (पुनर्जन्म) के कारण बनते हैं । किंतु स्वाभाविक होते हुए भी कर्मों की जो प्रवृत्ति अशास्त्रीय है वह पशु आदि की योनि से शुरू होने वाली और स्थावर (अचल) वस्तुओं में अंत होने वाली अधो-गति की और ले जाती है ।....जिसका चित्त शुद्ध हो चुका है, जो निष्काम हो चुका है, और जो साध्य-साधन रूप अनित्य बाह्य संबंधों से और इस जन्म में या पूर्व जन्म में किए गए (कर्मों के) संस्कार विशेष के, परिणाम से विरक्त हो चुका है उसमें प्रत्यगात्मा के स्वरूप की जिज्ञासा उत्पन्न होती है ।

(52) इच्छाओं का त्याग

प्रजाकर्मतत्संयुक्तविद्याभिर्मनुष्यपितृदेवलोकत्रयसाधनैः अनात्मलोक प्रतिपत्तिकारणैः किं करिष्यामः । न चास्माकं लोकत्रयमनित्यं साधनसाध्यमिष्टम्, येषामस्माकं स्वाभाविकोऽजोऽजरोऽमृतोऽभयो न वर्धते कर्मणा नो कनीयान् नित्यश्च लोक इष्टः । स च नित्यत्वान्नाविद्या-निवृत्तिव्यतिरेकेणान्यसाधननिष्पाद्यः । तस्मात् प्रत्यगात्मब्रह्मविज्ञानपूर्वकः सर्वेषणासंन्यास एव कर्त्तव्य इति ।

कर्म सहभावित्वविरोधाच्च प्रत्यगात्मब्रह्मविज्ञानस्य । न हि उपात्तकारकफलभेदविज्ञानेन कर्मणा प्रत्यस्तमितसर्वभेददर्शनस्य प्रत्यगात्मब्रह्मविषयस्य सहभावित्वमुपपद्यते । वस्तुप्राधान्ये सत्यपुरुषतन्त्रत्वाद्ब्रह्मज्ञानस्य । तस्मात् दृष्टादृष्टेभ्यः बाह्यसाध्यसाधनेभ्यो विरक्तस्य प्रत्यगात्मविषया ब्रह्मजिज्ञासा । के. उ. प. भा. भूमिका

संतान, कर्म, और उससे संयुक्त ज्ञान को लेकर हम क्या करें, जो क्रमशः मनुष्य, पितृ और देव लोकों (की प्राप्ति) के साधन हैं किंतु आत्म-लोक की प्राप्ति के साधन नहीं है ? हमें तो ऐसे तीनों लोक भी इष्ट (काम्य) नहीं हैं जो अनित्य हैं और जो इन साधनों से साध्य हैं । हमें तो ऐसा लोक इष्ट है जो स्वाभाविक, अजन्मा, अजर, अमर और अभय है, जो कर्म से न बढ़ता है, न घटता है, और जो नित्य है । और नित्यस्वरूप होने के कारण वह अविद्या की निवृत्ति के अतिरिक्त किसी अन्य साधन से प्राप्त नहीं हो सकता । अतः प्रत्यगात्मा-स्वरूप ब्रह्म के ज्ञान के साथ साथ सभी वासनाओं का परित्याग

(संन्यास) ही हमारा कर्तव्य है ।

इसलिए भी कि प्रत्यगात्मा-स्वरूप ब्रह्म-ज्ञान का कर्म से संबद्ध रहने का विरोध है । जिसकी दृष्टि में सभी भेद-भाव नष्ट हो चुके हैं और जिसका विषय ही प्रत्यगात्मा-स्वरूप ब्रह्म है, उसका भला ऐसे कर्म के साथ सह-अस्तित्व कैसे संभव है जो कारक संबंधों और फल के बीच भेद का बोध देने वाला है ? क्योंकि ब्रह्मज्ञान, जिसके लिए वस्तु (सत्य) ही प्रधान है, किसी पुरुषतंत्र (कर्त्ता) पर निर्भर नहीं कर सकता । इसलिए ब्रह्मजिज्ञासा, जिसका विषय प्रत्यक्-आत्मा है, उसी के लिए है जो दृष्ट और अदृष्ट दोनों ही प्रकार के साध्य और साधनों से, जो कि ब्राह्म है, विरक्त है ।

(53) ज्ञान की आवश्यकता

कष्टा खलु सुरनरतिर्यक्प्रेतादिषु संसारदुःखबहुलेषु प्राणिनिकायेष जन्म-जरामरणरोगादिसंप्राप्तिरज्ञानात् । अत इहैव चेन्मनुष्योऽधिकृतःसमर्थः सन् यद्यवेदीदात्मानं यथोक्तलक्षणं विदितवान् यथोक्तेन प्रकारेण, अथ तदास्ति सत्यं मनुष्यजन्मन्यस्मिन् अविनाशोऽर्थवत्ता वा सद्भावो वा परमार्थता वा सत्यं विद्यते ।....न चेहिद जीवन् चेदधिकृतः अवेदीत्, न बिदितवान् तदा महती दीर्घानन्ता विनष्टिः विनाशनं जन्मजरामरणादिप्रबन्धाविच्छेदलक्षणा संसारगतिः ।। के. उ. प. भा. 2-5

(आवागमन के) संसार-चक्र में फंस कर अनेक दुख पाने वाले देव, मनुष्य, पशु, प्रेत आदि प्राणियों के समूह को जन्म, जरा, मरण, रोग, आदि के रूप में अज्ञान के कारण जो फल भोगना पड़ता है वह बड़ा ही कष्टकर है । अतः कोई मनुष्य अधिकारी और समर्थ होते हुए यदि यहीं पर पूर्वोक्त लक्षण वाली आत्मा को उक्त प्रकार से जानता है तब तो सत्य है, अर्थात, इसी मनुष्य जन्म में अविनाशिता या अर्थवत्ता (सार्थकता) या सत् का भाव, अथवा परमार्थता या सत्य विद्यमान है । किंतु यहीं जीवित और अधिकारी रहते हुए भी यदि कोई (आत्मा को) नहीं जानता तब तो महान, दीर्घ और अनंत विनाश ही विनाश है जिसका लक्षण है जन्म, जरा, मरण, आदि के अविच्छिन्न रूप वाली संसार-गति ।

(54) आत्मा स्वभाव-सिद्ध है

न हि स्वभावसिद्धं वस्तु सिषाधयिषति साधनैः, स्वभावसिद्धश्च आत्मा । तथा नापिपयिषितः, आत्मत्वे सति नित्याप्तत्वात् । नापि विचिकारयिषितः, आत्मत्वे सति नित्यत्वादविकारित्वादविषयत्वादमूर्तत्वाच्च ।....न च संचिस्कीर्षितः...अनन्यत्वाच्च । अन्येनान्यत् संस्क्रियते । न चात्मनोऽन्यभूता क्रिया अस्ति, न च स्वेनैवात्मना स्वात्मानं संचिस्कीर्षेत् । न च वस्त्वन्तराधानं नित्यप्राप्तिर्वा वस्त्वन्तरस्य नित्या । नित्यत्वं

चेष्टं मोक्षस्य । अतः उत्पन्नविद्यस्य कर्मारंभोऽनुपपन्नः ।।

के. उ. वा. भा. भूमिका

स्वभावसिद्ध वस्तु को कोई साधनों द्वारा सिद्ध करने का यत्न नहीं करता । और आत्म स्वभावसिद्ध ही है । फिर, यह प्राप्त नहीं की जाती, क्योंकि स्वयं आत्मा ही होने से यह नित्य ही प्राप्त है । और यह ऐसी भी नहीं है जिसमें विकार (परिवर्तन) हो सके, क्योंकि यही स्वयं आत्मा न होने से, नित्य, अविकारी, विषयरहित ओर अमूर्त है।...न इसका संस्कार ही हो सकता है...क्योंकि यह अनन्य है । संस्कार अन्य वस्तु के द्वारा अन्य का ही किया जाता है । किंतु, आत्मा से भिन्न कोई क्रिया नहीं है । न ही आत्मा अपने द्वारा अपना ही संस्कार करने का यत्न कर सकती है । ओर एक वस्तु का दूसरी वस्तु पर आधान अथवा एक के द्वारा दूसरे की प्राप्ति नित्य (शाश्वत) भी नहीं हो सकती । किन्तु मोक्ष की नित्यता ही इष्ट है । अतः जिसमें ज्ञान उत्पन्न हो गया है उसके लिए कर्म का आरंभ संभव नहीं ।

(55) कर्म और ज्ञान में संबंध

कर्मनिष्ठाया ज्ञाननिष्ठाप्राप्तिहेतुत्वेन पुरुषार्थहेतुत्वं, न स्वातन्त्र्येण, ज्ञाननिष्ठा तु कर्मनिष्ठोपायलब्धात्मिका सती स्वातन्त्र्येण पुरुषार्थहेतुः, अन्यानपेक्षा ।

भ. गी. भा. 3-4

कर्म-निष्टा ही ज्ञान-निष्ठा की प्राप्ति की हेतु होकर पुरुषार्थ का हेतु बनती है, स्वतंत्र रूप से नहीं, किंतु ज्ञान-निष्ठा भी कर्म-निष्ठा के मार्ग से उपलब्ध हो जाने पर, स्वतंत्र रूप से पुरुषार्थ की हेतु बन जाती है—किसी अन्य (हेतु) की अपेक्षा किए बिना ।

(56) ज्ञान होने पर कर्म नहीं

न्यायाच्च—उपायभूतानि हि कर्माणि संस्कारद्वारेण ज्ञानस्य । ज्ञानेन तु अमृतत्वप्राप्तिः । ....न हि नद्याः पारगो नावं न मुंचति यथेष्टदेशगमनं । प्रति स्वातन्त्र्ये सति ।

के. उ. वा. भा. भूमिका

तर्क यह है : कर्म तो (चित्त के) संस्कार द्वारा ज्ञान की प्राप्ति के उपाय मात्र हैं । किंतु ज्ञान से अमृतत्व की प्राप्ति होती है ।.....नदी को पार करने वाला, यथेच्छ स्थान को जाने की स्वतंत्रता पा जाने पर, नाव का परित्याग न करे, ऐसा कहां होता है ?

(57) ज्ञानी के लिए कर्म-योग नहीं

आत्मतत्वविदः सम्यग्दर्शनविरुद्धो मिथ्याज्ञानहेतुकः कर्मयोगः स्वप्नेऽपि संभावयितुं न शक्यः।

भ. गी. भा. 5-1

आत्मवेत्ता के लिए कर्म-योग की बात तो स्वप्न में भी संभव नहीं हो सकती, क्योंकि वह सम्यक् दर्शन के विरुद्ध है ओर मिथ्या ज्ञान का हेतु है ।

7. साधन और साध्य

(58) वेदांत-अध्ययन की पात्रता

नित्यानित्यवस्तुविवेकः, इमामुत्रार्थभोगविरागः, शमदमादिसाधनसंपत्, मुमुक्षुत्वं च । तेषु हि सत्सु प्रागपि धर्मजिज्ञासाया ऊर्ध्वं च शक्यते ब्रह्म जिज्ञासितुं ज्ञातुं च न विपर्यये ।

ब्र. सू. भा. 1-1-1

नित्य और अनित्य वस्तुओं के बीच विवेक, यहां और यहां से परे भी भोगों से विरक्ति, शम (शांति), दम (इंद्रिय-दमन), आदि साधनों की पूर्ति, और मुमुक्षत्व (मुक्ति की कामना)–जब इतना हो जाय, या धर्म की जिज्ञासा के भी पहले, अथवा उसके बाद, ब्रह्म-जिज्ञासा हो सकती है और ब्रह्म को जाना जा सकता है; अन्यथा नहीं ।

(59) आत्महन्ता

आत्महनः । के, ते जनाः ये अविद्वांसः । कथं ते आत्मानं नित्यं हिंसन्ति ? अविद्यादोषेण विद्यमानस्यात्मनः निरस्करणात् । विद्यमानस्यात्मनो यत्कार्यं फलं अजरामरत्वादिसंवेदनलक्षणं तद्धतस्येव तिरोभूतं भवतीति प्राकृता अविद्वांसो जना आत्महन उच्यन्ते । तेन ह्यात्महननदोषेण संसरन्ति ते ।

ई. उ. भा. 3

आत्महन्ता : कौन हैं वे ? ये वे हैं जो अज्ञानी हैं । नित्य-रूप आत्मा का हनन वे कैसे कर पाते हैं ? विद्यमान आत्मा का, अविद्या के दोष से, तिरस्कार करके । जो आत्मा विद्यमान है उसका लक्षण है उसके अजरत्व, अमरत्व आदि का बोध; वह इस प्रकार तिरोहित हो जाता है मानो आत्मा का हनन ही कर दिया गया हो, और इसलिए प्राकृत (असंस्कृत) अज्ञानी लोग आत्महन्ता कहलाते हैं । आत्महनन के इस दोष के कारण ही वे संसार के आवागमन-चक्र में पड़े रहते हैं ।

(60) वैराग्य और ज्ञान

एवं विरक्तस्य प्रत्यगात्मविषयं विज्ञानं श्रोतुं मन्तुं विज्ञातुं च सामर्थ्यमुपपद्यते, नान्यथा । एतस्माच्च प्रत्यगात्मविज्ञानात् संसारबीजमज्ञानं कामकर्मप्रवृत्तिकारणं अशेषतो निवर्तते ।

के. उ. प. भा. भूमिका

जो इस प्रकार विरक्त हो चुका है वही प्रत्यगात्मा विषयक ज्ञान के श्रवण, मनन और समझने की सामर्थ्य को प्राप्त करता है, अन्य किसी प्रकार से नहीं । प्रत्यक्-आत्मा (ब्रह्म) का इस प्रकार का ज्ञान होने पर, संसार (आवागमन) का, और काम तथा कर्म में प्रवृत्ति का, कारण रूप अज्ञान अशेष रूप से निवृत्त हो जाता है ।

(61) लोभ न करो

कस्यस्विद्धनम् ? न कस्यचिद्धनमस्ति यत् गृध्येत । आत्मेवेदं सर्वमितीश्वरभावनया सर्वं त्यक्तम्, अत आत्मन एवेदं सर्वं आत्मेव च सर्वम् । अतो मिथ्याविषयां गृधिं मा कार्षीः।
ई. उ. भा. 1

धन किसका है ? धन क्या किसी का भी है, कि उसका लोभ किया जाय ? (किंतु), 'आत्मा ही यह सब है,' इस रूप में ईश्वर की भावना होने पर सब ही तो त्यक्त है । अतः यह सब आत्मा का ही है, और आत्मा ही यह सब है । इसलिए, मिथ्या विषय में लोभ नहीं करना ।

(62) उपासना

उपासनं नाम यथाशास्त्रं उपास्यस्यार्थस्य विषयीकरणेन सामीप्यं उपगम्य तेलधारावत् समानप्रत्ययप्रवाहेण दीर्घकालं यत् आसनं तत् उपासनमाचक्षते । भ. गी. भा. 12-3

उपासना का अर्थ है उपास्य अर्थ (विषय) का सामीप्य पाकर, और दीर्घकाल तक वहीं रहते हुए, तेल की धारा की भांति समविचारों की धारा को निरंतर प्रवाहित करते रहना ।

(63) भावना की विधि

विविक्तदेश आसीनो विरागो विजितेन्द्रियः ।
भावयेदेकमात्मानं तमनन्तमनन्यधीः ।। आ. बो. 38

निर्जन स्थान में बैठ कर, वैराग्यपूर्वक इंद्रियों पर विजय पाकर, अन्य किसी ओर ध्यान ले जाए बिना, उस अनंत, एक, आत्मा की भावना करे ।

(64) आत्मानुभूति : उसका स्वरूप

रूपंवर्णादिकं सर्वं विहाय परमार्थवित् ।
परिपूर्णचिदानन्दस्वरूपेणावतिष्टते ।। आ. बो. 40

रूप, वर्ण, आदि सभी का परित्याग कर, जो परमार्थवित्ता हो गया है वह परिपूर्ण चित्-आनन्द स्वरूप में ही रहता है ।

(65) तुरीय ही सत्य

आत्मत्वावगमे तुरीयस्य अनात्मतृष्णाव्यावृत्तिहेतुत्वात्, शुक्तिकावगम इव रजततृष्णायाः । न

हि तुरीयस्यात्मत्वावगमे सति अविद्यातृष्णादिदोषाणां संभवोऽस्ति । न च तुरीयस्यात्मत्वानवगमे कारणमस्ति । सर्वोपनिषदां तादर्थ्येनोपक्षयात् । मा. उ, भा. 1-7

जब तुरीय की आत्मा के रूप में अनुभूति हो जाती है तब अनात्म (जो आत्मा से भिन्न है) की तृष्णा की निवृत्ति का हेतु प्राप्त होता है, जिस प्रकार शुक्ति (सीपी) का बोध होते ही रजत (चांदी) की तृष्णा की निवृत्ति हो जाती है । तुरीय की आत्मा के रूप में अनुभूति हो जाने पर अविद्या, तृष्णा आदि दोषों की संभावना ही नही रहती । और तुरीय की आत्मा के रूप में अनुभूति न होने के लिए कोई कारण नहीं है, क्योंकि सभी उपनिषदों का यही एक तात्पर्य है ।

(66) ब्रह्मानुभूति

निगृहीतं चित्तं यदा सुषुप्ते न लीयते, न च पुनर्विषयेषु विक्षिप्यते, अनिंगनं अचलं निवातप्रदीपकल्पं, अनाभासं न केनचित् कल्पितेन विषयभावेनावभासते इति, यदां एवं लक्षणं चित्तं, तदा निष्पन्नं ब्रह्म, ब्रह्मस्वरूपेण निष्पन्नं चित्तं भवतीत्यर्थः ।

मा. का. भा. 3-46

निगृहीत चित्त जब सुषुप्ति (सोने की) अवस्था में लय को नहीं प्राप्त होता और न फिर विषयों में ही विक्षिप्त होता है, जब वह वायुरहित स्थान में रखे प्रदीप की लौ की तरह अचल और निष्कम्प हो जाता है, जब वह किसी भी कल्पित विषय के भाव में भासित न हो आभास-रहित हो जाता है—जब चित्त का यह लक्षण होता है तब ब्रह्म-प्राप्ति होती है, अर्थात चित्त तब ब्रह्मस्वरूप में समा जाता है ।

(67) ज्ञान से उत्पन्न शक्ति

अविद्याजं हि वीर्यं विनाशि । विद्यया अविद्याया बाध्यत्वात् । न तु विद्याया बाधकोऽस्तीति विद्याजममृतं वीर्यम् । अतो विद्या अमृतत्वे निमित्तमात्रं भवति । "नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः" इति चाथर्वणे । लोकेऽपि विद्याजमेव बलमभिभवति न शरीरादिसामर्थ्यम् यथा हस्त्यादेः ।।

के. उ. वा. भा. 2-4

अविद्या से उत्पन्न शक्ति नाशवान है, क्योंकि अविद्या विद्या से बाधित होती है । किंतु विद्या (ज्ञान) को बाधित करने वाला कुछ भी नहीं है । इस प्रकार, विद्या से उत्पन्न शक्ति अमर है । अतः विद्या ही अमरत्व का निमित्त बनती है । अथर्वण श्रुति (मुंडक) में कहा गया है—"यह आत्मा बलहीन को नहीं प्राप्त हो सकती ।"

लौकिक जगत में भी विद्या से उत्पन्न बल शरीर आदि की सामर्थ्य को पराभूत कर देता है, जैसा कि हाथी आदि के प्रसंग में देखा जा सकता है (जो मनुष्य द्वारा नियंत्रित किए जाते हैं) ।

(68) अनुबोध-मुक्ति

शास्त्राचार्योपदेशमन्वबोध आत्मसत्यानुवोधः । तेन संकल्पाभावान्न संकल्पयते दाह्याभावे ज्वलनमिवाग्नेः यदा यस्मिन् काले, तदा तस्मिन् काले अमनस्तां अमनोभावं याति ।

मा. का. भा. 3-32

शास्त्र और आचार्य के उपदेश के फलस्वरूप आत्म-सत्य का अनुबोध होता है । उसके कारण (चित्त) संकल्प-वस्तु का अभाव हो जाने से संकल्प करना छोड़ देता है, अर्थात कल्पनाएं नहीं करता, ठीक जिस प्रकार दाहक वस्तु के अभाव में अग्नि नहीं जलती । जब ऐसा हो जाता है तब उस समय मन का अमनोभाव हो जाता है, अर्थात मन नहीं रह जाता ।

(69) ज्ञान-प्राप्ति

अलब्धावरणाः अलब्धमप्राप्तमावरणम् अविद्यादिबन्धनं येषां ते धर्माः अलब्धावरणाः बन्धनरहिता इत्यर्थः । प्रकृतिनिर्मलाः स्वभावशुद्धाः आदौ बुद्धाः तथा मुक्ताः, यस्मान् नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावाः । यद्येवं कथं तर्हि बुध्यन्त इत्युच्यते—नायकाः स्वामिनः समर्थाः बोद्धुं बोधशक्तिमत्स्वभावा इत्यर्थः । यथा नित्यप्रकाशस्वरूपोऽपि सन् संविता प्रकाशत इत्युच्यते, यथा वा नित्यनिवृत्तगतयोऽपि नित्यमेव शैलाः तिष्ठन्तीत्युच्यते, तद्वत् ।

मा. का. भा. 4-98

अविद्या आदि के बंधन का आवरण कभी भी आत्माओं पर नहीं छा सकता; वे सदा ही बंधन-रहित हैं । वे प्रकृति से ही निर्मल हैं, आदिकाल से ही बुद्ध ओर मुक्त हैं, अतः वे स्वभाव से ही शुद्ध, बुद्ध ओर मुक्त सत्य-स्वरूप हैं । "यदि ऐसा है, तो जानने वाले बड़ों द्वारा यह क्यों कहा जाता है कि उन्हें बोधित (जाग्रत) किया जाता है ?" इसके उत्तर में कहा गया : जिस प्रकार सूर्य को, उसके नित्य-प्रकाश स्वरूप के रहते भी, प्रकाशित होता कहा जाता है, ओर जिस प्रकार शैलों के संबंध में, उनके सदा गतिहीन रहने पर भी, यही कहा जाता है कि वे खड़े हैं, उसी प्रकार यहां भी है ।

(70) सम्यक् दर्शन

तदेतत्सम्यग्दर्शनं स्तूयते—विगतरागभयक्रोधादिसर्वदोषैः सर्वदा मुनिभिः मननशीलैः विवेकिभिः वेदपारगैः अवगतवेदान्तार्थतत्त्वैः ज्ञानिभिः निर्विकल्पः सर्वविकल्पशून्यः अयमात्मा दृष्ट उपलब्धो वेदान्तार्थतत्परैः......विगतदोषैरेव पण्डितैर्वेदान्तार्थतत्परैः संन्यासिभिः अयमात्मा द्रष्टुं शक्यः, नान्यैः रागादिकलुषितचेतोभिः स्वपक्षपातिदर्शनैः तार्किकादिभिः । मा. का. भा. 2-35

सम्यक् दर्शन की यों प्रशंसा की जा रही है—उन मुनियों द्वारा जो सर्वदा ही राग, भय, क्रोध आदि सभी दोषों से मुक्त रहते हैं, जो मननशील हैं, जो विवेकी हैं, जो वेदों के

पारंगत हैं, अर्थात जिन्होंने वेदांत के अर्थ और तत्व को जान लिया है और जो ज्ञानी हैं, उन्हीं के द्वारा यह निर्विकल्प अर्थात सभी विकल्पों से शून्य आत्मा देखी गई है ...उन संन्यासियों द्वारा ही, जो दोष रहित हैं, और वेदांत की अर्थवत्ता में जिनकी तत्परता (दृढ़ता) है, इस आत्मा का दर्शन किया जा सकता है, दूसरों के द्वारा नहीं जिनके चित्त राग, आदि से कलुषित हैं और अपने ही पक्ष की बात देख सकने वाले कोरे तार्किक हैं ।

(71) मोक्ष की प्राप्ति

विदुषः त्यक्तेषणस्य स्थितप्रज्ञस्य यतेरेव मोक्षप्राप्तिः, न तु असंन्यासिनः कामाकामिनः ।

भ. गी. भा. 2-70

मोक्ष उस विद्वान के लिए ही है जिसकी इच्छाओं का त्याग हो गया है, जो स्थितप्रज्ञ है और जो उसके लिए यत्न करता है; कामों की कामना करने वाले असंन्यासी के लिए वह नहीं है ।

(72) महाज्ञानी लोग

अजे साम्ये परमार्थतत्त्वे एवमेवेति ये केचित् स्त्र्यादयोऽपि सुनिश्चिता भविष्यन्ति चेत्, त एव हि लोके महाज्ञानाः निरतिशयतत्त्वविषयज्ञाना इत्यर्थः । तच्च तेषां वर्त्म तेषां विदितं परमार्थतत्त्वं सामान्यबुद्धिः अन्यो लोकः न गाहते, नावतरति न विषयीकरोतीत्यर्थः ।

मा. का. भा. 4-95

उस अज और साम्य रूप परमार्थ तत्व के संबंध में जिन लोगों को भी यह निश्चय हो जाय—और इनमें स्त्रियां भी शामिल हैं—कि यह ऐसा ही है, वे लोग ही निरतिशय (जिससे ऊंचा और कुछ नहीं है) तत्व विषयक ज्ञान वाले महाज्ञानी हैं । उनका मार्ग और उनके द्वारा विदित पारमार्थिक तत्व सामान्य बुद्धि वाले दूसरे लोगों द्वारा नहीं समझा जा सकता ।

(73) फिर द्वैत भाव नहीं

न हि ब्रह्मैकत्वविज्ञानेनोन्मथितस्य द्वैतविज्ञानस्य पुनः संभवोऽस्ति ।

ब्र. सू. भा. 1-1-4

ब्रह्म के एकत्व का जिसे ज्ञान हो गया है उसके अंदर फिर से द्वैत-बोध की उत्पत्ति संभव नहीं है ।

(74) पूर्ण संतोष

अलंकारो ह्यस्माकं यद्ब्रह्मात्मावगते सत्यां सर्वकर्तव्यताहानिः कृतकृत्यता च ।

ब्र. सू. भा. 1-1-4

यह हमारे लिए अलंकार स्वरूप ही है कि ब्रह्म-ज्ञान हो जाने पर सभी प्रकार की कर्तव्यता का लोप हो जाता है, और कृतकृत्यता (सब कुछ कर लिया का संतोष) आ जाती है ।

(75) यहीं आत्मज्ञान

इह मनुष्यजन्मनि सति अवश्यमात्मा वेदितव्य इत्येतद्विधीयते । कथम् ? इह चेदवेदीद्विदितान्, अथ सत्यं परमार्थतत्वमस्ति अवाप्तम् । तस्य जन्म सफलमित्यभिप्राय: । न चेदिहावेदीन्न विदितवान् वृथैव जन्म । अपि च महती विनष्टि: महान् विनाशो जन्ममरणप्रबन्धा विच्छेदप्राप्तिलक्षण: स्याद्यत: तस्मादवश्यं तद्विच्छेदाय ज्ञेय आत्मा ।

के. उ. वा. भा. 2-5

यहीं, इस मनुष्य जन्म में, आत्मा का ज्ञान होना ही चहिए । यही विधान है । कैसे ? जो जानने का है वह यदि यहीं जान लिया गया तो पारमार्थिक तत्व रूप सत्य प्राप्त हो गया, अर्थात उसका जन्म सफल हो गया । यदि यहां उस आत्मा को नहीं जाना गया तो जीवन वृथा ही गया । तव तो महान विनाश ही होगा ओर जन्म-मरण के अविच्छिन्न चक्र में वह फंसा ही रहेगा । अत: उसे भंग करने के लिए आत्मा को जानना ही है ।

(76) सतत-प्राप्त की प्राप्ति

आत्मा तु सततं प्राप्तोऽप्यप्राप्तवदविद्यया ।
तन्नाशे प्राप्तवद्भाति स्वकण्टाभरण यथा ।। आ. वो. 44

सतत (सर्वदा ही) प्राप्त आत्मा भी अविद्या के कारण अप्राप्त—जेसी रह जाती है; उसका (अविद्या का) नाश हो जाने पर वह प्राप्त हुई जेसी भास उठती है, जिस प्रकार अपने ही कंट का आभरण ।

(77) जीवन्मुक्ति

जीवन्मुक्तिस्तु तद्विद्वान्पूर्वोपाधिगणांस्त्यजेत् ।
स सच्चिदादिधर्मत्व भेजे भमरकीटवत् ।। आ. वो. 49

जीवन्मुक्ति वह है जिसमें विद्वान मनुष्य पूर्व उपाधियों और उनके गुणों का त्याग कर देता है और सत्, चित्, आदि के धर्म को प्राप्त होता है, जिस प्रकार भ्रमर-कीट ।

(78) विद्वान अशरीरी है

तस्मात् मिथ्याप्रत्ययनिमित्तत्वात् सशरीरत्वस्य, सिद्धं जीवतोऽपि विदुषः अशरीरत्वम् ।... न अवगतब्रह्मात्मभावस्य यथापूर्वं संसारित्वम् । ब्र. सू. भा. 1-1-4

मिथ्या प्रत्यय (भ्रम) से ही देहयुक्त का भान होता है । इसलिए यह सिद्ध है कि विद्वान जीवित रहते भी अशरीरी है ।....जिसे ब्रह्मात्मभाव का ज्ञान हो गया है वह पहले की तरह सांसारिक (आवागमन के) चक्र में नहीं पड़ता ।

(79) ब्रह्म भाव

ब्रह्मभावश्च मोक्षाः....अनाधेयातिशयस्वरूपत्वान्मोक्षस्य....नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वरूपत्वात् मोक्षस्य । ब्र. सू. भा. 1-1-4

ब्रह्म-भाव ही मोक्ष है ।...मोक्ष ब्रह्म-स्वरूप ही है जिसमें कुछ भी बढ़ाया नहीं जा सकता ।...मोक्ष ब्रह्म-स्वरूप ही है जो नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त है ।

(80) ज्ञान का फल

तस्यैतत्फलमाह—अपहत्य पाप्मानं अपक्षय्य धर्माधर्मावित्यर्थः अनन्ते अपारे अविद्यमानान्ते स्वर्गे लोके सुखप्राये निर्दुःखात्मनि परे ब्रह्मणि ज्येये महति सर्वमहत्तरे प्रतितिष्ठति, सर्ववेदांतवेद्यं ब्रह्म आत्मत्वेनावगम्य तदेव ब्रह्म प्रतिपद्यत इत्यर्थः । के. उ. वा. भा. 4-9

उसका (ज्ञान का) फल यह है : पापों का नाश करके, अर्थात धर्म-अधर्म का क्षय करके, उस परमब्रह्म में प्रतिष्ठित हुआ जाता है जो अनंत, अपार, अविद्यमानांत (जिसका अंत विद्यमान नहीं है) स्वर्ग लोक की भांति है, अर्थात जहां दुखहीन सुख है, और जिसकी सत्ता सभी महानों से भी महान है । सर्व वेदांत शास्त्रों द्वारा वेद्य उस ब्रह्म को आत्म-स्वरूप जानने पर भी उसी ब्रह्मत्व की प्राप्ति हो जाती है—यह भाव है ।

शिवम् ऑफसैट प्रेस, ए-12/1, नरायणा इंडिस्ट्रियल एरिया, फेज-I, नई दिल्ली 110 028 द्वारा मुद्रित